

फोकस इण्डिया
प्रकाशन
दिसम्बर, 2016

पूर्वी राज्यों में हरित क्रांति



सहयोग
रोज़ा लकजमबर्ग स्टिफ्टुंग,
दक्षिण एशिया

पूर्वी राज्यों में हरित क्रांति

FOCUS
ON THE
GLOBAL
SOUTH



भारत में खाद्य संप्रभुता और क्षुद्र व सीमांत कृषि

लेखक : पी.

डाटा संकलन एवं
सम्पादकीय सहयोग : र

प्रकाशन : नवम्बर, 2016

द्वारा प्रकाशित : फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ
और इस पुस्तिका 33—डी, तीसरी मंजिल, विजय मंडल एनक्लेव
की प्रतियां पाने डी.डी.ए. एस.एफ.एस. पलैट्स, कालू सराय, हौज खास
के लिए संपर्क नई दिल्ली—110016
टेलीफोन : 91—11—26563588 , 41049021
<http://focusweb.org/>

सहयोग : रोज़ा लकजमबर्ग स्टिफ्टुंग, साउथ एशिया
सेंटर फोर इंटरनेशनल कॉ—ऑपरेशन
सी—15, दूसरी मंजिल, सफदरजंग डेवलपमेंट एरिया मार्केट,
नई दिल्ली—110016
www.rosalux-southasia.org

आवरण फोटो साभार : स

डिजाइन एवं मुद्रण : इंडिगो, 9313852068

इस पुस्तिका की विषयवस्तु का इस शर्त के साथ बिना—रोक टोक के पुनर्मुद्रण और उद्धृत किया जा सकता है कि इस स्रोत का उल्लेख किया जाए। फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ उस प्रकाशित सामग्री को पाने पर आभारी रहेगा, जिसमें इस रिपोर्ट का उल्लेख किया गया है।

इस पुस्तिका को पढ़ने के बाद आप अपने विचार हमारे साथ जरूर बांटें। आप हमें हमारे पते पर चिट्ठी भेज सकते हैं या फोन या ईमेल कर सकते हैं।

यह एक अभियान प्रकाशन है और निजी वितरण के लिए है!

Contents

Foreword	5
Understanding Climate Change	9
<i>What is climate change ?</i>	9
<i>How does climate change happen ?</i>	9
<i>Greenhouse Gases</i>	10
<i>What causes climate change ?</i>	11
<i>How are we contributing to climate change through our daily activities?</i>	13
<i>How does climate change affect us?</i>	14
<i>How is climate change affecting India?</i>	15
Negotiating Climate Change: World Politics	19
<i>UNFCCC : Hollow Commitments ?</i>	19
<i>India's Perspective: Economic Development Vs Cutting Emissions</i>	20
<i>Domestic Policies and Actions</i>	21
<i>Climate Smart Agriculture : Smart for whom?</i>	21
Climate Change and Agriculture in India	24
<i>Why does agriculture stand to loose the maximum from climate change ?</i>	24
<i>Effects of Climate Change on Different Zones and Crops</i>	25
Adaptation and Mitigation	30
Agroecology : The Sustainable Alternative to Climate Change Crisis	38

Foreword

Farme

भारत में खाद्य संप्रभुता और क्षुद्र व सीमांत कृषि

कृषि क्षेत्र में भारत एक महत्वपूर्ण उत्पादक देश है। दुग्ध उत्पाद, दाल और मसालों का भारत सबसे बड़ा उत्पादक है। भारत के पास विश्व में सबसे ज्यादा मवेशी हैं। गेहूं, चावल एवं कपास का सबसे बड़ा उत्पादन क्षेत्र भारत में है। चावल, गेहूं, कपास, गन्ना, मत्स्य, भेड़ एवं बकरी का मांस, फल, सब्जियां और चाय के क्षेत्र में भारत दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक देश है। भारतवर्ष में करीब 19.5 करोड़ हेक्टेयर भूमि के ऊपर खेती होती है जिसमें से करीब 63 प्रतिशत (अंदाजन 12.5 करोड़ हेक्टेयर) वर्षा आधारित है। केवल 37 प्रतिशत (करीब 7 करोड़ हेक्टेयर) ही सिंचित भूमि है। इसके अलावा भारत में करीब 6.5 करोड़ हेक्टेयर वन भूमि है।

वर्ष 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत में 83.3 करोड़ लोग ग्रामीण क्षेत्र में रह रहे थे। इनमें से अधिकांश लोग अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर हैं—चाहे वह खेती, बागवानी, पशुपालन या मत्स्य पालन हो। कृषि क्षेत्र में आय के अवसरों का विस्तार और गैर-कृषि गतिविधियों के साथ जुड़ाव, गरीबी उन्मूलन के कारगर उपायों में से एक है।

हमारी आधी से ज्यादा आबादी अपनी आजीविका के लिए कृषि के ऊपर निर्भर है। मानव विकास और आधारिक संरचना की स्थिति खराब होने के कारण और असमानताव अनिश्चितता से भरे माहौल में, ग्रामीण समाज अपने भविष्य के बदलावों को उम्मीद और घबराहट के साथ देखता है। गरीबी उन्मूलन के लिए कृषि आमदनी में वृद्धि को सबसे महत्वपूर्ण उपाय के रूप में देखा जाता है। गैर-कृषि आमदनी के उपाय—जैसे फसल कटाई के बाद के कार्य, कृषि-औजार का रखरखाव, इत्यादि—को कृषि के विस्तार के रूप में देखा जा रहा है।

भारत की अर्थव्यवस्था में कृषि का हिस्सा गिर कर 15 प्रतिशत से भी कम हो गया है। इसके मुकाबले औद्योगिक और सेवा क्षेत्र में विकास दर लगातार बढ़ रहे हैं। फिर भी कृषि का भारत की अर्थव्यवस्था और सामाजिक परिप्रेक्ष्य में बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। पहला, भारत के करीब तीन-चौथाई परिवार ग्रामीण रोजगार पर निर्भर हैं। दूसरा, भारत में सबसे ज्यादा गरीब (करीब 77 करोड़ लोग, या 70 प्रतिशत) ग्रामीण इलाकों में ही रहते हैं। और तीसरा, भारत की खाद्य सुरक्षा अनाज उत्पादन पर निर्भर है। यही नहीं बढ़ती आबादी की जरूरतों को पूरा करने के लिए फल, सब्जियां और दुग्ध उत्पादन में भी वृद्धि की जरूरत है। इसलिए, यह जरूरी है कि एक उत्पादनशील, प्रतिस्पर्धात्मक, विविध और टिकाऊ कृषि का बड़ी तेजी से विकास किया जाए।

हालांकि सरकारी रिपोर्ट के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबी में गिरावट आई है और लोगों की आमदनी बढ़ी है। परंतु यह भी सच है कि शहरी क्षेत्र की आमदनी और ग्रामीण क्षेत्र की आमदनी के बीच का फासला भी बड़ी तेजी से बढ़ा है। ऐसा इसलिए है क्योंकि कृषि क्षेत्र में विकास दर अन्य क्षेत्रों के मुकाबले बहुत कम रही है। एक वजह यह भी है कि गैर-कृषि क्षेत्र के अंदर रोजगार में वृद्धि नहीं हो सकी। कृषि के ऊपर निर्भरता कम करने के लिए यह जरूरी है कि गैर-कृषि क्षेत्र में रोजगार बढ़ाया जाए। हरित क्रांति की मदद से जो उत्पादन में वृद्धि हुई थी उसके फायदे आठवीं पंचवर्षीय योजना के अंत तक अपनी चरम सीमा तक पहुंच

चुके थे। उसके बाद उत्पादन दर में गिरावट आने लगी। बागवानी, पशुपालन और गैर-खाद्य फसल के रूप में विविधिकरण तो हुआ परंतु कृषि का सकल घरेलू उत्पाद वर्ष 1997-1998 से लेकर 2004-2005 के बीच केवल 1.9 प्रतिशत ही बढ़ा। इस दौरान कृषि आमदनी में ज्यादा बढ़ोत्तरी नहीं हुई क्योंकि व्यापार के नियम कृषि कार्य के अनुकूल नहीं थे। इससे यह पता चलता है कि एक तरफ तो कृषि उत्पादों की मांग कम थी और दूसरी तरफ ग्रामीण समुदाय के अन्दर क्रय शक्तिकी भी कमी थी।

अब चुनौती यह है कि सीमित भूमि और सीमित जल संसाधनके साथ भारत की बढ़ती जनसंख्या के लिए पर्याप्त मात्रा में अनाज कैसे पैदाकिया जाए और उसके साथ-साथ आमदनी भी कैसे बढ़ाई जाए। यह अनुमान लगाया जा रहा था कि अर्थव्यवस्था में तेजी से विकास होगा। एन.एस.एस.ओ (NSSO) द्वारा वर्ष 2009-2010 में 'घरेलू खर्च' के ऊपर किए गए सर्वे से पता चलता है कि औसतन परिवार का आधे से ज्यादा खर्च भोजन या खाद्य पदार्थ के ऊपर होता है। इस प्रकार बारहवीं पंचवर्षीय योजना के दौरान भी खाद्य उत्पादन के ऊपर दबाव बना रहा जबकि खपत पहले से ज्यादा व्यापक हो चुकी थी। अब लोग अनाज के ऊपर कुल खाद्य खपत का केवल 15 प्रतिशत ही खर्च कर रहेथे।

हमारी भोजन की टोकरी (Food consumption basket) में अब कई प्रकार की खाद्य सामग्रियां शामिल हो गई थीं। हालांकि, अनाज की मात्रा अभी भी सबसे ज्यादा थी पर धीरे-धीरे अनाज के बदले फल, सब्जियां, दूध, अण्डे, मांस और मछली जैसी सामग्रियों पर खर्च बढ़ रहे थे। हमारे खान-पान में यह बदलाव हमारी उम्मीदों के अनुरूप ही है। एन.एस.एस.ओ (NSSO) के आंकड़े यह भी बताते हैं कि वर्ष 1993-1994 और वर्ष 2004-2005 के बीच देश के सबसे गरीब 5 प्रतिशत लोगों के बीच अनाज खपत (प्रति व्यक्ति) में वृद्धि हुई है, जबकि बचे हुए 95 प्रतिशत लोगों में इसकी गिरावट देखी गई है। यह गिरावट शहरी इलाकों की तुलना में ग्रामीण क्षेत्रों में ज्यादा देखने को मिली। पर पशुओं के भोजन में अनाज की मांग लगातार बढ़ रही थी।

विगत कुछ वर्षों में खाद्य सुरक्षा का मुद्दा अंतर्राष्ट्रीय बहसों में छाया रहा। इस संदर्भ में एक सवाल कई बार उठा कि क्या भारत अपने लोगों के लिए पर्याप्त भोजन उपलब्ध करा पाएगा या उसे खाद्य आयात का सहारा लेना पड़ेगा? वास्तविकता यह है कि वर्ष 1990 से लेकर अभी तक ज्यादातर समय भारत अनाज का निर्यातक ही रहा है। वर्ष 2010-2011 में गेहूं और चावल (गैर-बासमती) के निर्यात में प्रतिबंध होने के बावजूद भी भारत ने 50 लाख टन अनाज का निर्यात किया था। इसमें 20 लाख टन बासमती चावल और 30लाख टन मक्का भी शामिल थे। साथ ही गेहूं और चावल का भारी मात्रा में भंडारण भी किया गया। पर अभी भी उत्पादकता में सुधार करने कीकाफी गुंजाइश बाकी है। इस तरह बिना आयात पर निर्भर हुए हम घरेलू उत्पादन के जरिए ही अपनी जरूरतों को पूरा कर सकते हैं। खाद्य सुरक्षा की कुंजी यह है कि जिस रफ्तार से जनसंख्या में वृद्धि हो रही है उससे ज्यादा तेजी से अनाज उत्पादन में वृद्धि की जाए ताकि भूमि को कृषि के अन्य इस्तेमाल के लिए भी उपलब्ध कराया जा सके।

खाद्य सुरक्षा और संपोषण विकास के नजरिये से सरकार का ध्यान राष्ट्रीय प्राथमिकता के रूप में हरित क्रांति को कम उत्पादन वाले पूर्वी क्षेत्र में भी लागू करने का था जहां पर्याप्त भू-जल उपलब्ध है। इसलिए, वर्ष 2010-2011 में 'राष्ट्रीय कृषि विकास योजना' (RKVY) के उप-योजना के रूप में बी.जी.आर.ई.आई (ब्रिंगिंग ग्रीन रिवोल्यूशन इन ईस्टर्न इंडिया-BGREI) अर्थात "पूर्वी भारत में हरित क्रांति लाना" नामक कार्यक्रम की शुरुआत की गई। सरकार के अनुसार इस कार्यक्रम के साथ-साथ ऊर्जा (power), प्रबंध

व्यवस्था (logistics) और विपणन (marketing) जैसी आधारिक संरचना के लिए भी निवेश किया जायगा।

हरित क्रांति क्या है ?

‘हरित क्रांति’ उसबड़े परिवर्तन का नाम है जिसने 1940 से 1960 के दशकों के दौरान दुनिया भर में कृषि को बदल दिया और जिसकी वजह से कृषि उत्पादन कई गुना बढ़ गया। ‘हरित क्रांति’ शब्द का इस्तेमाल सबसे पहले वर्ष 1968 में अंतर्राष्ट्रीय विकास के लिए संयुक्त राष्ट्र की एजेंसी (USAID) के तत्कालीन डायरेक्टर विलियम गॉड द्वारा किया गया था जब वे कृषि के नई तकनीकों का जिक्र कर रहे थे। नॉर्मन बोरलॉग, जिन्हें हरित क्रांति के जनक के रूप में जाना जाता है, ने कृषि के अन्दर कई नई खोजें की। इनमें प्रमुख हैं—अनाज की उच्च उत्पादन वाली किस्मों का विकास, सिंचाई की संरचना का विस्तार, प्रबंधन तकनीकों का आधुनिकीकरण, संकर बीजों का वितरण, कृत्रिम खाद और कीटनाशक।

भारत में हरित क्रांति

दुनिया भर में भारत दूसरा ऐसा देश है जिसने अपने यहां हरित क्रांति को लागू किया। इसे सबसे पहले पंजाब, उत्तरप्रदेश और पश्चिम बंगाल में आजमाया गया। भारत में हरित क्रांति के केंद्र में 3 उत्पादों का पैकेज था—(1) उच्च उत्पादन वाली किस्मों के बीज (विशेष रूप से गेहूं और धानके); (2) कीटनाशक; और (3) खाद। दो-फसल को भी हरित क्रांति का एक प्रमुख उपाय के रूप में पेश किया गया था क्योंकि भारत पारंपरिक रूप से एकफसल वाला देश रहा है। भारतीय कृषि व्यवस्था मुख्य रूप से वर्षा आधारित रही है इसलिए यहां वर्ष में एक ही फसल लेने का प्रचलन था।

दो फसल के लिए एक वर्ष में दो बार वर्षा की जरूरत थी। एक तो प्राकृतिक थी और दूसरी कृत्रिम, अर्थात् भू-जल आधारित। अत्यधिक मात्रा में जमीन से पानी निकाल कर खेती करने से भू-जल स्तर गिरने लगा। उत्पादन बढ़ाने के लिए अत्यधिक कीटनाशकों के इस्तेमाल से भू-जल दूषित होने लगा। सारा ध्यान गेहूं और धान जैसी उच्च उत्पादन वाली फसलों पर केंद्रित होने के कारण फसलों में विविधता खत्म होने लगी। बाजरा जैसी फसलें जिनमें प्रचुर मात्रा में प्रोटीन और फाइबर पाया जाता है, की खेती कम हो गई।

भारत में हरित क्रांति का असर

हरित क्रांति के आने से भारत में खाद्य भंडारण (गेहूं और चावल) कई गुना बढ़ गया। पर फिर भी भारत स्थाई रूप से आत्म निर्भर नहीं बन पाया। गेहूं और चावल के अलावा अन्य आवश्यक खाद्य सामग्रियों की आज भी भारत में कमी है। कई बार भारत को प्याज और चीनी का आयात करना पड़ा है। वर्ष 1998, 2006 और 2014 में घरेलू खपत के लिए भारत को प्याज का आयात करना पड़ा। वर्ष 2006 में भारत ने चीनी का आयात किया क्योंकि घरेलू बाजार में चीनी की कमी हो गई थी। वर्ष 1965 से 1980 के बीच, चावल का उत्पादन 2.92 लाख मेट्रिक टन से बढ़कर 32 लाख मेट्रिक टन हो गया और गेहूं का उत्पादन 19 लाख से बढ़कर 76.9 लाख मेट्रिक टन हो गया। पर अभी भी भारत आत्मनिर्भर नहीं बन पाया है। इसी दौरान दालों और तिलहन के उत्पादन में गिरावट आई जो भारत में प्रोटीन और वसा (फैट)के मुख्य स्रोत हैं। वर्ष 1979 से 1987 के बीच भारत को कई बार खराब मानसून के कारण सूखा का भी सामना करना पड़ा। इससे सवाल यह उठता है कि क्या हरित क्रांति वाकई में एक बड़ी उपलब्धि है ?

तालिका 1 : मुख्य फसलों और सहयोगी गतिविधियों का उत्पादन (1950-51 से 1996-97)
(मिलियन टन में)

फसल	1950-51	1970-71	1980-81	1990-91	1996-97
खाद्यान्न	50.8	108.42	129.59	179.39	199.32
चावल	20.58	42.22	53.63	74.29	81.31
गेहूं	6.46	23.83	36.31	55.14	69.27
सी. सीरियल्स	15.38	30.55	29.02	32.70	34.28
दालें	8.41	11.82	10.63	14.26	14.46
गन्ना	57.05	126.37	154.25	241.05	277.25
कपास	3.04	4.76	7.01	9.84	14.25
9 तिलहन	5.16	9.63	9.37	18.61	24.96
दूध	17.00	21.20	31.60	53.90	68.60
मछली	0.80	1.80	2.40	3.80	5.35

स्रोत : कृषि सांख्यिकी एक नजर में, 1997, कृषि मंत्रालय

ऊपर दिए गए सरकारी आंकड़ों से गेहूं, चावल और गन्ने के उत्पादन में वृद्धि देखी जा सकती है। इसके अलावा हम यह भी देख सकते हैं कि दालों और तिलहन के उत्पादन में भी मामूली वृद्धि हुई है जो गरीब तबके के लिए प्रोटीन और वसा (फैट) का मुख्य स्रोत है। यह आंकड़ा अनाज में वृद्धि तो दिखाता है पर फल और सब्जियों के उत्पादन के बारे में कुछ नहीं बताता जो विटामिन और अन्य आवश्यक पोषक तत्वों का मुख्य स्रोत है।

तालिका 2 : कृषि निवेश (वर्ष 1980-1981 के स्थिर कीमत पर)

(करोड़ रुपये में)

वर्ष	कुल (जी.सी.एफ.) कृषि	पब्लिक (जी.सी.एफ.)	प्राइवेट (जी.सी.एफ.)		प्रतिशत हिस्सा
			पब्लिक	प्राइवेट	
1991-92	4729	1002	3727	21.2	78.8
1992-93	5372	1061	4311	19.7	80.3
1993-94	5031	1153	3878	22.9	77.1
1994-95	6256	1316	4940	21.0	79.0

1995-96 (Q)	6961	1268	5693	18.29	1.8,
1996-97 (Q)	6999	1132	5867	16.28	3.8

Q : त्वरित आंकलन; जी.सी.एफ : ग्रॉस कैपिटल फॉर्मेशन (सकल पूंजी निर्माण); जी.एफ.सी.एफ;
 स्रोत : सी.एस.ओ, राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी, विभिन्न अंक

तालिका 1 से हमें उत्पादन के बारे में पता चलता है कि कैसे वर्ष 1950-1960 के दौरान और हरित क्रांति को लागू करने के बाद पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में अनाज के उत्पादन में वृद्धि हुई। 1970 के दशक से वर्ष 1997 तक, खाद्यान्न (अनाज, गेहूं, चावल) के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई। अगर हम तालिका 2 में दिए गए वर्ष 1991 और 1997 के बीच के कृषि निवेश आंकड़ों को देखें तो पाएंगे कि एक तरफ सार्वजनिक निवेश में कमी आई है और साथ ही निजी निवेश में वृद्धि हुई है। इन आंकड़ों से साफ पता चलता है कि एक तरफ तो सरकार कृषि उत्पादों (जैसे खाद, कीटनाशक और अन्य कृषि औजारों)के ऊपर भारी सब्सिडी देने का दावा कर रही है वहीं दूसरी तरफ कृषि में सरकार के निवेश का हिस्सा लगातार घटता जा रहा है। फलस्वरूप, सरकार द्वारा तय किए गए उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए किसानों को अपनी ओर से ज्यादा से ज्यादा निवेश करना पड़ रहा है।

वर्ष 1991 में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के बाद सरकार हमेशा यह दावा करते आई है कि उसके ऊपर कृषि सब्सिडी का बड़ा बोझ है। पर वर्ष 1991 से 1997 के बीच के आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है की हरित क्रांति को प्रोत्साहित करने में सरकार की क्या भूमिका रही है। सरकार का कृषि पर खर्च वर्ष 1991 में 21.2 प्रतिशत था, जो वर्ष 1997 में घटकर 16.2 प्रतिशत हो गया।

तालिका 3 : आठवीं योजना के लक्ष्य और फसल उत्पादन (मिलियन टन में/कपास : मिलियन गांठ में; 170 किलो की प्रत्येक गांठ)						
फसल	आठवीं योजना लक्ष्य	1992-93 हासिल	1993-94 हासिल	1994-95 हासिल	1995-96 हासिल	1996-97 हासिल
चावल	88.0	72.86	80.30	81.81	76.98	81.31
गेहूं	66.0	57.21	59.84	65.77	62.10	69.27
सी. सीरियल्स	39.0	36.59	30.81	29.88	29.03	34.28
दालें	17.0	12.82	13.31	14.04	12.31	14.46
खाद्यान्न	210.0	179.4	8184.26	191.50	180.42	199.32
9 तिलहन	23.0	20.11	21.50	21.34	22.10	24.96
गन्ना	275.0	228.0	3229.66	275.54	281.10	277.25
कपास	14.0	11.40	10.74	11.89	12.86	14.25

स्रोत : योजना आयोग / कृषि मंत्रालय

अभी तक हमने कृषि में सरकारी निवेश और निजी निवेश और अनाज के उत्पादन के बारे में जाना। अगर हम वर्ष 1990 के उत्पादन की तुलना वर्ष 1950 से करें तो हमें काफी बदलाव देखने को मिलेंगे पर अगर हम मौजूदा उपलब्ध आंकड़ों को वर्ष 1991 से 1997 के आंकड़ों के साथ तुलना करें तो हम पाएंगे कि हम कभी भी उत्पादन लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाए हैं। हरितक्रांति को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार के समर्थन के बावजूद भी कई बार उत्पादन में गिरावट आई है। आठवीं पंचवर्षीय योजना में चावल का उत्पादन लक्ष्य 88 मिलियन टन था। पर कभी भी इस लक्ष्य को हासिल नहीं किया जा सका। वर्ष 1994-1995 में चावल का उत्पादन बढ़कर 81.81 मिलियन टन तक तो पहुंचा पर अगले ही वर्ष यह गिरकर 76.98 मिलियन टन हो गया। इसके बाद वाले वर्ष में यह उत्पादन फिर से 1994-1995 के उत्पादन स्तर तक पहुंचा, पर क्या इसे उत्पादन में वृद्धि कहा जाएगा?

इसी प्रकार गेहूं, दाल, तिलहन, गन्ना और कपास की फसलें भी उत्पादन लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाईं। कभी-कभी तो उत्पादन पिछले वर्ष से भी कम हो जाता था। अगर हम जलवायु और बाजार को भी ध्यान में रखें तो भी वर्ष 1991 के बाद से फसल उत्पादन में ठहराव देखा जा सकता है।

खाद्य उत्पादन में आए ठहराव के कारण सरकार अपनी हरित क्रांति नीति पर फिर से चिंतन करने को मजबूर है। इन स्थितियों का स्पष्ट आंकलन करने के बजाए केंद्र सरकार फिर से पूर्व भारत में हरित क्रांति लागू करने के बारे में सोच रही है। हरित क्रांति में कभी भी अनाज के अलावा अन्य फसलों के बारे में नहीं सोचा गया जो सामान्य पोषण के लिए आवश्यक हैं। आधुनिक तकनीक और हरित क्रांति के कारण पूर्वी भारत में पर्यावरण और कृषि के कुछ गंभीर मुद्दे सामने आए हैं।

फसल विविधता के ऊपर प्रभाव

भारत में खेती के इतिहास की शुरुआत से ही किसान प्रकृति से मिले विभिन्न किस्मों को लगातार पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपनाते और संशोधित करते आए हैं। फसलों में विविधता न ही पूर्ण रूप से प्राकृतिक है और न ही आकस्मिक। यह विविधता हजारों वर्षों के प्रयास और नवीनीकरण का नतीजा है। फसल चयन, पार-प्रजनन (cross breeding) तथा अन्य तकनीकों के माध्यम से पर्यावरण के अनुकूल उपयुक्त फसलों को सुरक्षित रखा गया। स्थानीय पर्यावरण के अनुसार अपने आप को ढालना ही फसल विविधिकरण का प्रमुख सिद्धांत है। सुदूर अतीत में चावल की किसी एक किस्म से किसानों के हुनर और कौशल से करीब 5000 नई किस्में तैयार हुई होंगी। इस तथ्य को आधुनिक बीज उद्योग हमेशा नजर अंदाज करता रहा है। यहां तक कि उपभोक्ता भी इस जानकारी से अनभिज्ञ हैं। जीवित बचे रहना (survival) इन फसलों की बुनियादी विशिष्टता है। इसीलिए कभी-कभी एक ही गांव में जल, भूमि और खाद के अनुसार किसी फसल की अनेक किस्में होती हैं। पूर्वोत्तर भारत के पहाड़ों में कई आदिवासी गांव ऐसे हैं जहां धान की फसल दक्षिण-पूर्व एशिया क्षेत्र की फसल से मिलती जुलती है। यहां के सीढ़ीदार खेतों में प्रति वर्ष 20 से भी अधिक किस्मों के चावल की खेती होती है।

उत्तर भारत में हरित क्रांति के कारण विविध किस्मों को लगाना छोड़कर किसान कुछ चुनी हुई विशिष्ट किस्मों को ही लगाने लगे। अन्य शब्दों में, अंतर-फसलों (inter-cropping) को एक-फसली (mono-cropping) के साथ बदल दिया गया। स्थानीय फसलों की विविधता के बजाए मुनाफा कमाना ही फसल

चयन का मुख्य आधार बन गया। इस प्रक्रिया में फसलों की व्यापक आनुवंशिक(जेनेटिक) विविधता को खत्म करके फसलों को एक संकीर्ण आनुवंशिक (जेनेटिक) श्रेणी में बदल दिया गया। धान की स्थानीय किस्मों को IR-8 जैसी नई किस्मों के साथ बदल दिया गया, जिसका उत्पादन प्रति हेक्टेयर 3 से 4 गुना ज्यादा है। अधिकांश देशी और स्थानीय फसलों को लगाना बंद कर दिया गया जिनमें यह खासियत थी कि वे विपरीत परिस्थितियों में भी बच जाते थे।

जैव-विविध कृषि की सबसे बड़ी विशेषता उनकी जीवित बचे रहने की क्षमता है, जिसके उदाहरण पूरी दुनिया भर में फैले हुए हैं। इसका एक बेहतरीन उदाहरण हिमालय के गढ़वाल क्षेत्र में 'बारहनाजा' पद्धति से मिलता है। इसका शाब्दिक अर्थ – '12 अनाज' है। इसमें एक ही खेत में कई सारी फसलों को एक साथ बोया जाता है। राजमा, काला चना, हरा चना, चने की दाल, चौलाई, रागी, बाजरा तथा अन्य फसलों को एक साथ लगाया जाता



है ताकि साल भर पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होता रहे। 'बारहनाजा' में अलग-अलग फसलें अलग-अलग समय पर पकती हैं और उन्हें अलग-अलग समय पर काटा जाता है। इससे जमीन की नमी बनी रहती है और हमें लगातार भोजन मिलता रहता है। दालों जैसे पौधे की मदद से मिट्टी की उर्वरकता भी निरंतर बनी रहती है। कुछ अध्ययन यह बताते हैं कि बारहनाजा से कुल मिलाकर के अच्छा उत्पादन प्राप्त होता है और इसके साथ-साथ वह हमारी जरूरतों को निरंतर पूरा करता रहता है। जरा इसकी तुलना उस खेत से करें जिसमें सिर्फ सोयाबीन की फसल लगाई गई हो, जिसे आजकल कृषि विभाग बड़े जोर-शोर से प्रोत्साहित कर रहा है!

मशीनीकरण का प्रभाव

आमतौर पर मशीनीकरण को आधुनिकीकरण के साथ जोड़कर देखा जाता है जो विकसित देशों की देन है। कृषि क्षेत्र के मामले में भारत में भी यही अवधारण है। कृषि में मशीनीकरण के प्रभावों का अध्ययन किए बिना ही हमने पश्चिमी देशों की नकल करना शुरू कर दिया और भारी मशीनों की मदद से अपनी कृषि को आधुनिक बनाने की होड़ में लग गए। भारी मशीनों और तकनीकी विकास से भारतीय कृषि का उत्पादन ढांचा पूरी तरह से बदल गया। पारंपरिक और टिकाऊ कृषि के बदले अब हमारी कृषि आधुनिक और जोखिम भरी हो गई है।

भारत के किसानों में आमदनी और भूमि-धारण में भारी असमानता है जो किसानों को विभिन्न श्रेणियों में बांट



देता है। मशीनीकरण से अलग-अलग श्रेणियों के किसान अलग-अलग तरीके से प्रभावित हुए हैं। भारत में छोटे एवं सीमांत किसानों की संख्या बहुत ज्यादा है। दुर्भाग्यवश, इन किसानों के लिए मशीनों को खरीद पाना संभव नहीं। यहां तक कि उनके लिए मशीनों के रखरखाव का खर्च भी बहुत ज्यादा है। कई किसान अत्यधिक गरीब हैं और वे किराएदार भी हैं। उनके लिए भारी मशीनों के साथ इस्तेमाल होने वाले बीज और खाद का खर्च

उठा पाना संभव नहीं।

तेजी से बढ़ते मशीनीकरण के कारण कई इलाकों में बेरोजगारी बढ़ी है। मशीनों के लिए बहुत कम लोगों की जरूरत होती थी। उदाहरण के रूप में ट्रैक्टर के आने से कृषि कार्य में लोगों की भागीदारी कम हो गई। मशीनीकरण के कारण ग्रामीण इलाकों में भारी बेरोजगारी बढ़ी है। लोगों का गांव से शहर की ओर पलायन शुरू हो गया। विडम्बना तो इस बात की है कि शहरों में भी इन लोगों के रोजगार के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। गांवों से पलायन करने वाले लोग मुख्य रूप से पारंपरिक किसान थे। भारी मात्रा में इनके पलायन से बड़े शहरों में नई समस्याएं पैदा होने लगीं।

कई छोटे किसान जिन्होंने नई तकनीक और भारी मशीनों को अपनाना चाहा, वे अब गहरे कर्ज में डूबे हुए हैं। उसे वापस करने का उनके पास कोई उपाय नहीं है। इससे उनमें काफी तनाव बढ़ रहा है और वे आत्महत्या तक करने के लिए मजबूर हो रहे हैं—महाराष्ट्र और पंजाब में ऐसी घटनाएं आय दिन होते रहती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नई तकनीक आस-पास के वातावरण को बदल देती है। उसके जटिल परिणाम होते हैं जिन्हें आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और संस्थानिक स्तर पर देखा जा सकता है। इन प्रभावों का अनुमान लगा पाना मुश्किल है। आमतौर पर यह भी पाया गया है किये ग्रामीण विकास के उद्देश्यों के अनुरूप भी नहीं होते हैं।

जल के ऊपर प्रभाव

शुरुआत में हरित क्रांति का मुख्य उद्देश्य अधिक उपज देने वाली किस्मोंको प्रोत्साहित करने का था। इन फसलों को देशी फसलों की तुलना में ज्यादा पानी की आवश्यकता होती है, विशेष रूप से चावल के मामले में। इस जरूरत को पूरा करने के लिए नई सिंचाई प्रणाली की शुरुआत की गई। नई सिंचाई नीति काफी महंगी थी। अनुपयुक्त सिंचाई व्यवस्था के कारण पानी में लवण की समस्या शुरू हो गई। ज्यादा उपज वाली किस्मों के लिए ज्यादा पानी उपलब्ध कराने के लिए बड़े-बड़े डैम बनाए गए क्योंकि भारत के कई इलाकों में

वर्षा कम होती है। नदियां भी सभी इलाकों में मौजूद नहीं हैं। बड़े डैम के निर्माण के कारण बहुत सारी उपजाऊ भूमि डूब गई और पारिस्थितिकी तंत्र प्रभावित हुए। बहुत भारी मात्रा में स्थानीय लोगों का विस्थापन हुआ और उन्हें उचित मुआवजा भी नहीं दिया गया।



बाढ़ के बाद पटना के पास के इलाके

नई सिंचाई व्यवस्था अपने साथ पानी के भराव की समस्या लेकर आई। सिंचाई की नहर प्रणाली में पानी का भराव एक गंभीर समस्या है। यह न सिर्फ उपजाऊ भूमि को खराब करता है

बल्कि इससे कई गंभीर पारिस्थितिक समस्याएं भी पैदा होती हैं। इंदिरा गांधी नहर जल-भराव का एक बेहतरीन उदाहरण है जिसके कारण कई स्तर पर समस्याएं पैदा हुईं। राजस्थान के जैसलमेर, गंगानगर और बीकानेर जिलों में कई हजार एकड़ की उपजाऊ भूमि और चरण-भूमि में जलभराव हो गया। इंदिरा गांधी नहर की सिंचाई की मदद से कई किसान अब चारागाह भूमि में गेहूं, चावल और कपास की खेती कर रहे हैं। इससे एक तरफ फसलों का उत्पादन तो बढ़ा है पर साथ ही अत्यधिक गहन सिंचाई के कारण जमीन खराब हुई है और जल भराव की समस्याएं सामने आई हैं।

आज के समय में जल संसाधनों की कमी है और भारत में यह काफी महंगे होते जा रहे हैं। बड़े किसान ही नहर सिंचाई का फायदा उठा पाते हैं क्योंकि वे ही इसके खर्च उठा पाने में सक्षम होते हैं। अपने खेतों की सिंचाई के लिए छोटे किसानों को ज्यादा ब्याजदर पर कर्ज लेना पड़ता है।

भू-जल के ऊपर प्रभाव

फसलों का उत्पादन बढ़ाने के लिए उच्च-उत्पादन वाली किस्मों को अपनाया गया, जिन्हें पारंपरिक देशी फसलों के मुकाबले कहीं ज्यादा पानी की आवश्यकता होती है। जिन इलाकों में नहर नहीं है और जहां वर्षा कम होती है वहां भू-जल का सहारा लिया गया। हरित क्रांति के कारण गेहूं और चावल की खेती ज्यादा बड़े इलाकों में होने लगी है। राजस्थान, पंजाब और हरियाणा जैसे राज्यों में भी चावल की खेती होने लगी, जहां 50 सेंटीमीटर से भी कम वर्षा होती है। इन इलाकों में किसान सिंचाई की मदद से जून के महीने में धान की रोपाई करते हैं, जब वहां का तापमान अधिकतम 42 डिग्री सेंटीग्रेड और न्यूनतम 30 डिग्री सेंटीग्रेड होता है। चावल को पानी बहुत पसंद है और इसे आमतौर पर 100 सेंटीमीटर से भी ज्यादा वर्षा की जरूरत होती है।

इस प्रकार भू-जल के रूप में एक महत्वपूर्ण और कीमती संसाधन का दोहन होने लगा। जहां-जहां भी सिंचाई के लिए भू-जल का इस्तेमाल होता था वहां पानी का स्तर बड़ी तेजी से गिरने लगा। पंजाब और उत्तर

प्रदेश के कुछ इलाकों में पानी का स्तर 4 से 6 फीट तक गिर गया। इससे कई किसानों को अपने पम्प सेट के लिए दुबारा खुदाई करनी पड़ी। इन किसानों के पास उच्च उत्पादन वाली फसलों की सिंचाई के लिए भू-जल के अलावा और कोई उपाय नहीं था। चिंता का विषय यह है कि अगर इसी प्रकार भू-जल का अत्यधिक दोहन होता रहा तो भू-जल को दुबारा रिचार्ज कर पाना संभव नहीं हो पायेगा।

दूसरी तरफ, जहां-जहां भी नहर की अच्छी व्यवस्था थी वहां का भू-जल स्तर बढ़ने लगा। पर यह स्थिति भी मिट्टी के लिए ठीक नहीं है क्योंकि भू-जल स्तर के बढ़ने से भारी मात्रा में वाष्पीकरण होता है जिससे मिट्टी लवणीय और छारीय (एल्कलाइन) हो जाती है। मिट्टी की गुणवत्ता और वनस्पतियों के ऊपर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है।

स्वास्थ्य के ऊपर प्रभाव

हरित क्रांति को लागू करने के लिए चावल और गेहूं की उच्च-उत्पादन वाली किस्मों को बढ़ावा दिया गया। इन किस्मों को पानी की ज्यादा जरूरत होती है। इसके साथ-साथ बड़ी मात्रा में रसायनिक खाद तथा फसल की सुरक्षा के लिए अन्य रसायनों की भी जरूरत पड़ती है। इनकी वजह से कीट और कीड़े भी तेजी से पनपते हैं। इन कीड़ों से फसल को बचाने के लिए और भी ज्यादा रसायनिक कीटनाशकों का इस्तेमाल किया जाता है। सब्जियों और अनाज में कीटनाशकों के प्रभाव से उत्पादन तो बढ़ता है पर ये स्वास्थ्य के लिए काफी हानिकारक होते हैं।

इन पौध-सुरक्षण रसायनों को कृत्रिम रूप से तैयार किया जाता है। ये रसायन जहरीले होते हैं और इंसानों और मवेशियों के लिए हानिकारक भी होते हैं। उत्पादन और मुनाफे में वृद्धि के लिए इन रसायनों का सिर्फ फसलों पर ही नहीं बल्कि सब्जियों और अमरूद, सेब, नारंगी एवं लीची जैसे फलों के ऊपर भी भारी मात्रा में इस्तेमाल किया जाता है।

इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च (आई.सी.एम.आर) द्वारा किए गए एक सर्वे से यह निकलकर आया कि डी.डी.टी तथा अन्य कीटनाशकों के अवशेष गाय के दूध तक में देखने को मिले हैं। सुरमा (lead), तांबा, जस्ता, केडमियम, और आरसेनिक के अवशेष चावल, गेहूं, मक्का, सरसों, कपास, तिल, फल और सब्जियों में भी पाए गए हैं।

भारत में स्वास्थ्य को सबसे गंभीर खतरा प्रदूषित भोजन और दूषित पानी से होता है। जहरीले रसायन—जैसे गानों-क्लोरीन, गैमिक्सिन और डी.डी.टी के इस्तेमाल से इंसानों और जंगली जानवरों के ऊपर काफी बुरे प्रभाव पड़ रहे हैं। फंगसनाशी (fungicide) और शाकनाशी (herbicide) की वजह से फंगस और घास के बीच का संतुलन बिगड़ गया है। उत्पादन को बढ़ाने के लिए हमने पारिस्थितिकीय असंतुलन संबंधि कई समस्याओं को न्यौता दे दिया है।

खाद्य सुरक्षा की समस्याओं से निपटने के लिए नए जहरीले रसायनों का इस्तेमाल किया जाने लगा जिनकी वजह से वातावरण प्रदूषित होने लगा। कीटनाशकों से जल और हानिकारक रसायनों से हवा दूषित होने लगी। स्वास्थ्य के ऊपर इसके बुरे प्रभाव पड़ने लगे जिससे कैंसर, अस्थमा और सांस की बिमारियां बढ़ने लगीं।

पंजाब, हरियाणा और उत्तर प्रदेश में मलेरिया की समस्या को साल भर खेतों को गीला रखने के साथ जोड़कर देखा जा रहा है। खेतों की नमी और गर्म तापमान मच्छरों के पनपने के लिए बिल्कुल सही स्थिति पैदा करते हैं। हरित क्रांति के इलाकों में से प्रत्येक वर्ष ज्यादा से ज्यादा मलेरिया के मामले सामने आ रहे हैं।

हरित क्रांति को संसाधन और खाद्य की कमी के समाधान के रूप में पेश किया गया था। पर भौतिकी और पारिस्थितिकी वैज्ञानिक और कार्यकर्ता, वंदना शिवा का कहना है कि इस उपाय से प्रकृति के अंदर पारिस्थितिकी का नुकसान हुआ है और समाज का राजनीतिक पतन हुआ है। इस नीति ने समाज और प्रकृति को तहस नहस कर दिया है।

इस प्रकार उच्च-उत्पादन वाली किस्मों को अपनाने से कई बदलाव आए हैं जो मिट्टी की उर्वरकता, पर्यावरणीय स्थिरता और स्वास्थ्य के लिए सही नहीं है। हरित क्रांति के इलाकों में जिस प्रकार जैव-विविधता का नुकसान हुआ है उसके दीर्घगामी गंभीर पारिस्थितिकीय परिणाम होंगे। भारत में कृषि के विकास के लिए बहुत ज्यादा पारिस्थितिकीय कीमत चुकानी पड़ रही है। हमारे प्रधान भोजन के लिए जिन नई बीजों का इस्तेमाल किया जा रहा है उनसे अनेक सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं।



पूर्वी भारत में हरित क्रांति

हरित क्रांति को उत्पादन के मामले में सफलता तो मिली परंतु यह मुख्य रूप से अनाज तक ही सीमित रहा। अन्य कृषि उत्पादों तक ये नहीं पहुंच पाया। क्षेत्रों के आधार पर देखें तो हरित क्रांति के कारण सिर्फ पंजाब और हरियाणा में ही अनाज उत्पादन में सफलता मिली। भारत का पूर्वी क्षेत्र जो गंगा के मैदानों में फैला हुआ है, जैसे पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल में इसके ज्यादा अच्छे परिणाम देखने को नहीं मिले।

लाभ के साथ-साथ हरित क्रांति से कई समस्याएं भी सामने आईं। इससे, विशेष रूप से, श्रम, श्रमिकों और काम के बीच के संबंध बुरी तरह से प्रभावित हुए जिसकी वजह से बड़े स्तर पर शहरों की ओर पलायन होने लगा। भारी मशीनीकरण और पर्यावरण का नुकसान भी इसके जिम्मेदार हैं। रसायनिक कीटनाशक और शाकनाशक के अत्यधिक इस्तेमाल से आसपास के पर्यावरण और स्वास्थ्य के ऊपर काफी बुरा प्रभाव पड़ा। सिंचित इलाकों में वृद्धि हुई पर इससे जमीन में लवण की मात्रा बढ़ने लगी। उच्च-उत्पादन वाली किस्मों के अपने फायदे हैं पर उनकी वजह से महत्वपूर्ण आनुवांशिक नुकसान भी हुआ है।

भारत का पूर्वी क्षेत्र आजादी के पहले देश का सबसे विकसित और सभ्रांत क्षेत्र था। आज यह क्षेत्र जैव-भौतिकी, संस्थानिक और सामाजिक-आर्थिक अभाव से ग्रस्त है। इसी वजह से यहां कम लागत, कम उत्पादन और कम जोखिम वाली एक खास तरह की निर्वाह खेती अस्तित्व में आई। यहां खेत का औसत आकार, सिंचाई व्यवस्था, खाद की औसत खपत और कृषि में ऊर्जा की खपत राष्ट्रीय औसत से कम है। पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की तुलना में तो यह बहुत ही कम है। उड़ीसा और बिहार में खाद की औसत खपत भारत में सबसे कम है क्योंकि यहां के अधिकतर किसान अभी भी अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए बिना बाजार पर निर्भर हुए खेती के पारंपरिक तरीकों का इस्तेमाल कर रहे हैं। इसके परिणामस्वरूप यहां उत्पादन दर कम है और इसमें वृद्धि नहीं के बराबर हो रही है। तालिका में दिए गए आंकड़ों से स्पष्ट हो जाता है कि बिहार और उत्तरप्रदेश में जोत का औसत आकार राष्ट्रीय औसत (1.6) की तुलना में बहुत कम है। इतने छोटे जोत में मशीनों और तकनीकों का इस्तेमाल पारंपरिक खेती की तुलना में काफी महंगा पड़ता है।

तालिका 4 : पूर्वी राज्यों में कृषि के सूचक (1990 दशक के मध्य में)

सूचक	इकाई	भारत	उड़ीसा	बिहार	छत्तीसगढ़	उत्तर प्रदेश
जोत का औसत आकार	हेक्टेयर	1.6	1.3	0.9	2.6	0.39
कुल कृषि भूमि में छोटे जोत का %	%	59.0	53.6	76.6	37.3	73.8
कुल कृषि भूमि में सिंचित भूमि का %	%	35.1	32.8	46.7	24.4	65.6
खाद की खपत	किलो/हे.	74.8	25.2	77.0	34.7	101.4
कृषि में ऊर्जा की खपत	KWH/'000 हे.	379	35	142	228	351
खाद्यान्न का उत्पादन	किलो/हे.	1547	1250	1480	1080	1920
कुल खाद्यान्न में चावल का %	%	42.8	93.5	52.5	25.8	29.1

स्रोत : सी.एम.आई.ई. विभिन्न वर्षों में राज्यों का प्रोफाइल : आर्थिक सर्वे और कृषि सांख्यिकी एक नजर में, भारत सरकार

हरित क्रांति की लहर में उत्पादन बढ़ाने के लिए किसानों ने खाद का इस्तेमाल बढ़ा दिया। उच्च-उत्पादन वाली किस्मों के लिए इनका ज्यादा इस्तेमाल करना जरूरी भी था। ऊपर की तालिका में हम देख सकते हैं कि बिहार में 77.0 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर और उत्तरप्रदेश 101.4 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से खाद की खपत होती है जो राष्ट्रीय औसत (74.8 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर) से बहुत ज्यादा है।

इन पूर्वी राज्यों की जलवायु और मिट्टी सब्जियों के उत्पादन के लिए काफी अनुकूल है। हालांकि यहां भंडारण, पैकेजिंग, परिवहन, और व्यवस्थित बाजार प्रणाली संबंधित मौलिक आधारिक संरचनाओं की कमी है,

पर फिर भी बिहार कृषि योजना आयोग के अनुसार, सब्जी उत्पादन में बिहार का स्थान देशभर में तीसरा है। यहां पारंपरिक और गैर-पारंपरिक सब्जियों का बिना रसायनिक खाद, कीटनाशक, शाकनाशक और भारी मशीनों के मदद से उत्पादन किया जाता है। यहां तक की सब्जियों के सबसे बड़े उत्पादक राज्य—पश्चिम बंगाल और उत्तर प्रदेश में भी पारंपरिक तरीके से खेती और बागवानी की जाती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश को छोड़ कर पूर्वी उत्तर प्रदेश के ज्यादातर हिस्सों में खेती के पारंपरिक तरीकों से ही बागवानी की जाती है। इसमेंकृत्रिम खाद का इस्तेमाल बहुत कम किया जाता है और भारी मशीनों और तकनीकों का नहीं के बराबर इस्तेमाल किया जाता है।

अगर हम इन राज्यों की तुलना पंजाब और हरियाणा के साथ करें जहां हरित क्रांति का सबसे ज्यादा फायदा पहुंचा है तो हमें बहुत स्पष्ट आंकड़े मिलेंगे। इन राज्यों में सब्जियों का उत्पादन काफी कम होता है और इनकी गिनती ऊपर के 10 बड़े उत्पादकों में भी नहीं होती है। वहीं पश्चिम बंगाल में 25466.8 MT सब्जियां होती हैं जो सूची में सबसे आगे हैं; उत्तर प्रदेश का स्थान दूसरा है (19571.6 MT) और बिहार का स्थान तीसरा (16325.7 MT) है। सबसे मजेदार बात तो यह है कि इतनी मात्रा में यह उत्पादन बिना किसी सरकारी सब्सिडी या राज्य-नीति के हो रहा है। यहां किसान या उत्पादक मुख्य रूप से पारंपरिक तरीकों पर निर्भर हैं जिसमें बहुत कम लागत की जरूरत पड़ती है। इसलिए इन्हें मौसमी सब्जियों की खेती के लिए भारी निवेश की आवश्यकता नहीं होती। अपनी पिछली फसल सेहीये बीज बचा लेते हैं और उनका अगले मौसम में इस्तेमाल करते हैं। मौसमी सब्जियां होने के कारण इन्हें बहुत ज्यादा पानी की आवश्यकता नहीं होती। वर्षा का पानी या जलवायु में मौजूद नमी से ही इन सब्जियों का काम चल जाता है।

कृषि की इस पद्धति से सामाजिक स्थिरता बनी रहती है। साथ हीयह भोजन में पोषण की मात्रा भी सुनिश्चित करता है। खाद्य सामग्रियों का आपस में आदान-प्रदान, जैसे अनाज के बदले सब्जियां या फल, के कारण सामाजिक तानाबाना बना रहता है। एक पारंपरिक समाज के लिए यह अनिवार्य है। कम लागत होने के कारण अगर फसल के नुकसान की स्थिति बनती भी है तो उसमें किसानों को कम नुकसान होता है। पंजाब और महाराष्ट्र के किसानों से अलग, जहां खेती में लागत बहुत ज्यादा है, यहां के किसानों को स्थानीय कर्जदारों से कर्ज नहीं लेना पड़ता है। पूर्वी भारत में अधिकतर किसान अपनी बचत को फिर से निवेश करते हैं और बीज खरीदते हैं। पंजाब और महाराष्ट्र की तुलना में हम बड़ी आसानी से पूर्वी भारत में हुए किसान आत्महत्याओं की संख्या में फर्क देख सकते हैं।

मसालों के उत्पादन में भी ये राज्य पंजाब, हरियाणा और महाराष्ट्र से बहुत आगे हैं। उत्तर प्रदेश सरसों तेल के सबसे बड़े उत्पादकों में से एक है। बिहार सरसों तेल का दूसरा सबसे बड़ा उत्पादक राज्य है और आंध्र प्रदेश का स्थान तीसरा है। हम जानते हैं कि खाना बनाने में सरसों तेल का सबसे ज्यादा इस्तेमाल होता है। यह उत्तर भारत और पश्चिमी भारत में वसा (फैट) का मुख्य स्रोत है क्योंकि इस इलाके में घी या मक्खन खरीदने की क्षमता लोगों में कम है। हल्दी के उत्पादन में भी पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश और बिहार आगे हैं। पश्चिम बंगाल का हल्दी उत्पादन में पांचवां स्थान है; बिहार का नौवां और उत्तर प्रदेश का ग्यारहवां स्थान है। हम सभी को हल्दी की औषधीय क्षमता मालूम है। हल्दी एक बहुत ही अच्छी प्राकृतिक एंटीबायोटिक है और इसका कई दवाओं में इस्तेमाल किया जाता है।

लहसुन के उत्पादन में उत्तर प्रदेश का पांचवा और बिहार का दसवांस्थान है। इसमें भी काफी औषधीय गुण हैं और यह हमारे रोजाना के भोजन का एक अहम् हिस्सा है। मिर्ची के उत्पादन में अगर हम दक्षिण भारत और गुजरात को छोड़ दें, तो उत्तर प्रदेश, पश्चिम बंगाल और बिहार सबसे बड़े उत्पादकों में से एक है। मिर्ची का इस्तेमाल हम नियमित रूप से करते हैं।

बिहार में कई प्रकार के मसालों का उत्पादन होता है। सरकार की रिपोर्ट के अनुसार इस वक्त बिहार की करीब 15,081 हेक्टेयर भूमि में 20,000 टन मसालों का सालाना उत्पादन होता है। इन मसालों में अदरक, हल्दी, मिर्ची, धनिया और लहसुन मुख्य हैं। मसालों की कुल खेती में से करीब 47.6 प्रतिशत भूमि में मिर्ची का उत्पादन होता है जिसमें कुल 40.5 प्रतिशत मिर्ची का उत्पादन होता है। मिर्ची के बाद हल्दी का स्थान है जिसका उत्पादन कुल मसालों की भूमि में से 26.3 प्रतिशत भूमि में होता है। यहां हल्दी के कुल उत्पादन का 36.4 प्रतिशत उत्पादन होता है।

आधुनिक और पारंपरिक खेती के बीच मुख्य अंतर

कृषि के कारण मानव जाति ने पूरी दुनिया पर हजारों सालों से राज किया है। लगातार बढ़ रही जनसंख्या की जरूरतों को पूरा करने के लिए कृषि के विज्ञान को हमेशा परिष्कृत किया जाता रहा है। हालकी शताब्दी तक, उत्पादन की जा रही फसलें मुख्य रूप से जैविक थीं। जैसे-जैसे आबादी बढ़ती गई वैसे-वैसे खाद्य उत्पादन के लिए भूमि की उपलब्धता कम होने लगी और फसलों की आसानी से खपत होने लगी। जनसंख्या में तीव्र वृद्धि के कारण खाद्य असुरक्षा का संकट छाने लगा। इसीलिए विज्ञान के ऊपर यह दबाव बना कि पौधों की अधिकतम क्षमता को हासिल करने के लिए जरूरी कृत्रिम रसायन और जीनांतरण (gene-manipulation) तकनीकों को विकसित किया जाए। पिछली शताब्दी में पूरे विश्व भर में कृषि उत्पादन में बड़ी तेजी से वृद्धि हुई। पर इसके साथ-साथ प्रदूषण और पर्यावरण में भी गिरावट आई। आज कृषि में कई प्रकार की तकनीकें मौजूद हैं। पर बढ़ती आबादी, पर्यावरण सुरक्षा, और समाज की जरूरतों को ध्यान में रखते हुए यह जरूरी है कि विश्व के स्तर पर टिकाऊ और पारंपरिक खेती के ऊपर ज्यादा ध्यान दिया जाए। आज विश्व की जनसंख्या 700 करोड़ है और यह लगातार बढ़ती जा रही है। ऐसे में यह सवाल काफी महत्वपूर्ण है कि दुनिया केलोगों की भूख मिटाने के लिए सबसे टिकाऊ और किफायती तरीका क्या होगा? अच्छी बात तो यह है कि हजारों सालों से कृषि के तरीके लगातार परिष्कृत होते आ रहे हैं जिनकी मदद से हम इस सवाल का जवाब ढूंढ सकते हैं।

खेती के दो प्रमुख प्रकार हैं, जिनकी हम तुलना कर सकते हैं – (1) पारंपरिक; और (2) आधुनिक या मशीनी खेती। कृषि पद्धतियों की इस तुलना में हमारा मकसद यह समझने का होगा कि इन दोनों के फायदे और नुकसान क्या हैं जिसके बाद ही हम यह तय कर पाएंगे कि खेती का कौन सा तरीका सही है। हालांकि, खेती के बहुत सारे तरीके मौजूद हैं पर उन्हें तकनीकों के आधार पर 'टिकाऊ खेती' और 'आधुनिक खेती' में बांटा जा सकता है। 'टिकाऊ खेती' में रसायन या कीटनाशक का इस्तेमाल किए बिना, मिट्टी की उर्वरकता को बनाए रखते हुए, और जैव-विविधता को प्रोत्साहित करते हुए, कई फसलों का एक साथ उत्पादन किया जाए। यह खेती का एक पारंपरिक और टिकाऊ तरीका है जो पारिस्थितिकी तंत्र पर आधारित है। यह इलाके की समग्रता को ध्यान में रखते हुए पर्याप्त मात्रा में उत्पादन सुनिश्चित करता है। दूसरी तरफ भारत में हरित

क्रांति के साथ आई 'आधुनिक खेती' में फसल की पैदावार को बढ़ाने के लिए उन्नत बीज, रसायनिक खाद और कीटनाशक का इस्तेमाल किया जाता है। इस तरीके में महत्वपूर्ण रूप से रसायन और ऊर्जा की लागत आती है और यह क्षेत्र की पारिस्थितिकी तंत्र को कमजोर बनाता है। इस तुलनात्मक अध्ययन के लिए इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि अध्ययन किए जा रहे फसलों की मिट्टी संरचना, भूगोल और आवर्तन प्रणाली (rotation systems) क्या है। पारंपरिक खेती की क्षमताओं को समझने के लिए यह जरूरी है कि एक दीर्घकालीन और व्यापक स्तर पर कई फसलों का विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अध्ययन किया जाए। फसल के स्वास्थ्य और उत्पादन के ऊपर विभिन्न घटकों का अपना योगदान होता है। इसलिए एक बड़े स्तर पर शोध करने की आवश्यकता है।

सिंचाई, अंतर-फसल (inter-cropping) और फसल-चक्रिकरण (crop rotation) जैसी तकनीकों की मदद से कृषि में उत्पादन क्षमता बढ़ी है। पिछले कुछ शताब्दियों में खेती के तरीकों में आमूल परिवर्तन आए हैं। कई देशों में अब आधुनिक खेती की ओर रुझान बढ़ रहा है। बढ़ती जनसंख्या, आर्थिक अस्थिरता, जलवायु परिवर्तन और कंपनियों का उत्पादन बढ़ाने के लिए दबाव—जैसे तत्वों ने इस तरह के रुझान को बढ़ावा दिया है। हालांकि, इन आधुनिक तरीकों को अपनाकर किसान कंपनियों के जाल में फंस जाते हैं क्योंकि इससे उनकी फसल ऊर्जा की उच्च आगत, कृत्रिम रसायन और उन्नत बीजों के ऊपर आश्रित हो जाती है। एक बार आधुनिक खेती का अपना लेने के बाद किसान कर्ज और सब्सिडी के जाल में फंसते चले जाते हैं।

1. आधुनिक कृषि

हरित क्रांति के अंतर्गत आधुनिक कृषि एक व्यापक शब्द है जिसकी कई परिभाषाएं हैं। परंतु आमतौर पर किसी फसल को आधुनिक तभी कहा जा सकता है जब उसमें कृत्रिम रसायन का इस्तेमाल किया गया हो। फसल की अधिकतम पैदावार प्राप्त करने के लिए आधुनिक कृषि में भारी मात्रा में रसायन और ऊर्जा का इस्तेमाल किया जाता है। यह तरीका आमतौर पर प्राकृतिक वातावरण को बदल देता है, मिट्टी की गुणवत्ता को खराब करता है और जैव-विविधता को प्रभावित करता है। आधुनिक कृषि का विकास खेती की कार्यक्षमता को बढ़ाने के लिए किया गया था, परंतु इसमें पर्यावरण का ध्यान नहीं रखा गया।

आधुनिक कृषि का लक्ष्य फसल की पैदावार को चरमसीमा तक पहुंचाना है। इसे रसायन, उन्नत बीज और कई अन्य औद्योगिक उत्पादों की मदद से हासिल किया जाता है। इस व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जैव-विविधता, मिट्टी की उर्वरकता और पारिस्थितिकीय तंत्र को ताक पर रख दिया जाता है। इन फसलों के उत्पादन से सिर्फ खाद्य सुरक्षा और अर्थव्यवस्था को ही फायदा पहुंचता है। हरित क्रांति की तकनीकों को इस्तेमाल करने पर लगातार रख रखाव की जरूरत पड़ती है।

रख रखाव को ध्यान में रखते हुए आधुनिक खेती में आमतौर पर एक-फसली (mono-cropping) का उपयोग किया जाता है, परंतु यह बहुत खर्चीला भी होता है। आधुनिक व्यवस्था में पूरे खेत को किसी एक ही फसल के लिए समर्पित करना होता है, जिससे एकरूपता बनी रहे। यह एकरूपता ही आधुनिक पद्धति की सफलता या विफलता तय करती है। इससे श्रम खर्च कम हो जाता है और कटाई आसान हो जाती है। पर साथ ही यह जैव-विविधता के ऊपर बुरा प्रभाव डालता है और फसलों को रोगों के प्रति अतिसंवेदनशील बना देता है। रसायन और उन्नत बीज की मदद से आधुनिक कृषि में रखरखाव को किसानों के लिए सरल बना

दिया जाता है। लेकिन इनमें लगातार ऊर्जा और पैसों की जरूरत पड़ती है। अगर खेत में सिर्फ एक ही फसल हो तो कीटनाशक और शाकनाशक का छिड़काव भी आसान हो जाता है। परंतु इसके कई सारे अनचाहे परिणाम भी होते हैं। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि आधुनिक खेती में उत्पादन वृद्धि ही सब कुछ होता है, और इसका पर्यावरण और जैव-विविधता से कोई लेना-देना नहीं है।

2. टिकाऊ या पारंपरिक खेती

आधुनिक खेती अगर कृषि का एक सिरा है तो दूसरा सिरा टिकाऊ या पारंपरिक खेती है। भारत में पारंपरिक खेती एक ऐसी उत्पादन व्यवस्था है जो मिट्टी की गुणवत्ता, पारिस्थितिकी तंत्र और लोगों के स्वास्थ्य को बनाए रखता है। यह पारिस्थितिकी प्रक्रिया, जैव-विविधता और स्थानीय स्थितियों के अनुसार अपने आप को ढालने के सिद्धांतों पर आधारित है, न कि वैसी सामग्रियों पर जिनसे वातावरण के ऊपर बुरा प्रभाव पड़े। जैविक खेती में परंपरा, नवीनीकरण और विज्ञान अंतर्निहित है जिससे पर्यावरण को फायदा पहुंचे, उचित संबंधों का विकास हो और एक गुणवत्ता भरी जिंदगी सुनिश्चित हो। तकनीक पर आधारित आधुनिक कृषि की तुलना में टिकाऊ खेती में समग्र दृष्टिकोण अपनाया जाता है, जिसमें पारिस्थितिकी तंत्र को आधार बना कर आसपास के पर्यावरण को सुरक्षित रखा जाता है। यह खाद्य उत्पादन का एक स्वाभाविक और प्राकृतिक तरीका है। इसके अनेक सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय फायदे हैं।

टिकाऊ खेती को करने के कई तरीके हो सकते हैं जो पौधों का स्वास्थ्य और फसल का उत्पादन सुनिश्चित करने के लिए प्राकृतिक चक्र पर आधारित होते हैं। भारत में, और विशेष रूप से पूर्वी भारत में सदियों से खेती में कभी भी कीटनाशक, शाकनाशक और कृत्रिम खाद के प्रयोग नहीं किया गया है। इसके बदले किसान कई पौधों या फसलों को एक साथ लगाकर जैव-विविधता का खास ध्यान रखते आए हैं, और इस तरह कीटों और बीमारियों को दूर रखते आए हैं। जहां आधुनिक खेती में पौधों को बीमारियों और कीटों से बचाने के लिए एकरूपता और रसायन का इस्तेमाल किया जाता है वहीं टिकाऊ खेती में पौध-सुरक्षण के लिए जैव-विविधता का सहारा लिया जाता है।

टिकाऊ खेती से किसान, अर्थव्यवस्था और खाद्य सुरक्षा को फायदा पहुंचता है। यह आसपास के वातावरण के अनुकूल होती है। टिकाऊ खेती में आर्थिक लाभ और पर्यावरण स्वास्थ्य के ऊपर बराबर ध्यान रखा जाता है। टिकाऊ खेती का एक उदाहरण संरक्षण खेती है। संरक्षण खेती की मदद से हम उन इलाकों में भी फसल का उत्पादन दोगुनातक कर सकते हैं जहां खाद का प्रयोग फायदेमंद नहीं है। इस पद्धति की मदद से कई वर्षों तक कम वर्षा में भी उत्पादन किया जा सकता है। संरक्षण खेती में पहले वातावरण को ध्यान में रखा जाता है और फिर ज्यादा उत्पादन के बारे में सोचा जाता है।

3. टिकाऊ और आधुनिक खेती की तुलना

टिकाऊ खेती और आधुनिक खेती की तुलना करते वक्त कई बातों का ध्यान रखना जरूरी है —जैसे उत्पादन, जैव-विविधता, मिट्टी की संरचना, मिट्टी का कटाव, पानी की खपत, ऊर्जा की खपत और ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन इत्यादि। प्रत्येक कृषि पद्धति के पर्यावरणीय प्रभाव एवं उनके उत्पादन दर के आधार पर ही उनकी व्यवहार्यता का अंदाजा लगाया जा सकता है। इस तरह के तुलनात्मक अध्ययन से ही

हम सही कृषि पद्धति का चयन कर सकते हैं जिससे बढ़ती जनसंख्या की जरूरतों को पूरा किया जा सके। यह तुलना वैज्ञानिक आंकड़ों के आधार पर नहीं है, इसलिए अंतिम निष्कर्ष तक पहुंचने के लिए व्यापक और गहन शोध की आवश्यकता है।

मौजूदा जनसंख्या की जरूरतों को पूरा करने के लिए अपार संसाधनों की आवश्यकता है। अगर अत्यधिक उत्पादन से जुड़े पर्यावरणीय नुकसान के बारे में न सोचा जाए तो आधुनिक खेती एक सही तरीका हो सकता है। अध्ययनों के अनुसार वैश्विक स्तर पर जैविक खेती में आधुनिक खेती से औसतन 25% कम उत्पादन होता है। हालांकि, यह आंकड़ा फसलों के प्रकार और जाति के अनुसार बदलता रहता है। यह इस बात पर भी निर्भर करता है कि किस विशिष्ट पद्धति के साथ इसकी तुलना की गई है। पर फिर भी अधिकांश शोध यह बताते हैं कि आधुनिक खेती की तुलना में टिकाऊ फसल का उत्पादन कम होता है।

पारंपरिक या टिकाऊ खेती में कई प्रकार के पर्यावरणीय फायदे तो हैं पर उनका उत्पादन सीमित होता है। आमतौर पर, उत्पादन के मामले में आधुनिक खेती का मुकाबला पारंपरिक या टिकाऊ खेती नहीं कर पाते हैं। पर कई बार हमें इसके विपरीत भी देखने को मिला है। उत्पादन के मामले में कभी-कभी पारंपरिक फसल भी आधुनिक फसलों को मात दे देती है। इसका एक बेहतरीन उदाहरण हमें बिहार के केडिया गांव में मिलता है, जहां 'ग्रीनपीस' संस्था की मदद से गांव वालों ने उत्पादन को बढ़ाने का अपना एक पारंपरिक तरीका ढूंढ निकाला है। सूखा की स्थिति में भी इस तरीके की मददसे ज्यादा उत्पादन मिल सकता है क्योंकि इसमें स्वाभाविक रूप से ज्यादा पानी रोकने की क्षमता होती है। 'रोडेल इंस्टीट्यूट फार्मिंग सिस्टम ट्रायल' (वर्ष 1981 से 2002) के अध्ययन के दौरान वर्ष 1999 में, जिस वर्ष बहुत बड़ा सूखा पड़ा था, मक्के की फसल में यह पाया गया कि आधुनिक खेती की तुलना में जैविक (पशु-प्रणाली) पद्धति ज्यादा कामयाब रही। आधुनिक पद्धति से 1,100 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से उत्पादन हुआ पर जैविक (पशु-प्रणाली) पद्धति से 1,511 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर की दर से उत्पादन प्राप्त हुआ, जो महत्वपूर्ण रूप से अधिक है। पर यहीं पर टिकाऊ खेती की एक दूसरी पद्धति—'फली-आधारित जैविक खेती' बिलकुल भी कामयाब नहीं रही, जिसमें उत्पादन दर मात्र 412 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर ही रहा।

हालांकी, आधुनिक खेती को अधिकतम उत्पादन के लिए बनाया गया है लेकिन कुछ विशिष्ट पर्यावरण और सामाजिक स्थितियों में पारंपरिक फसलों का प्रदर्शन उनसे बेहतर होता है।

उत्पादन में अंतर कई वजहों से हो सकता है। क्योंकि आधुनिक फसलों को खास तौर पर ज्यादा उत्पादन के लिए ही बनाया गया है, इसलिए यह अंतर स्वाभाविक है। आमतौर पर, आधुनिक फसल को आनुवंशिक रूप से संशोधित (genetically modify) करके बनाया जाता है जिससे वह विशिष्ट स्थितियों में पारंपरिक फसलों से ज्यादा उत्पादन दे सकें। इसके साथ-साथ इन फसलों के ऊपर जहरीले कीटनाशक और शाकनाशक रसायनों का भी छिड़काव किया जाता है जिससे इनकी एकरूपता बरकरार रहे। कुछ ऐसे अध्ययन भी किए गए हैं जिससे जैव-विविधता और उत्पादन वृद्धि के बीच के संबंध का पता लगाया जा सके। इन अध्ययनों में यह पाया गया कि खेतों में जैव-विविधता और फसलों के उत्पादन के बीच नकारात्मक संबंध है। मुख्य रूप से जैविक खेती की बात की जाए तो इनके बीच इससे ज्यादा संबंध नहीं है कि जैव-विविधता में वृद्धि के साथ-साथ उत्पादन गिरने लगता है। हालांकि, टिकाऊ खेती में उत्पादन का स्तर कम होता है पर दूसरी

तरफ कुछ अध्ययनों से यह भी पता चला है कि जैव-विविधता और फसलों के स्वास्थ्य के बीच गहरा संबंध है।

इस तुलना में जैव-विविधता की बड़ी भूमिका है क्योंकि यह कृषि के स्वास्थ्य और उत्पादन से जुड़ा हुआ है। जैव-विविधता जितनी ज्यादा होगी उतना ही ज्यादा पौधों में कीटों और बीमारियों से लड़ने की शक्ति होगी। यह तथ्य काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि आधुनिक खेती में जैव-विविधता को पूरी तरह से नजरअंदाज किया जाता है। इसके बदले फसल को स्वस्थ रखने के लिए कृत्रिम रसायनों का इस्तेमाल किया जाता है। खेती में प्रत्येक वर्ष 940 मिलियन पाउंड से भी ज्यादा कीटनाशक का इस्तेमाल किया जाता है जिसमें से सिर्फ 10 प्रतिशत ही सही लक्ष्य तक पहुंच पाते हैं। अगर टिकाऊ विकल्प के बारे में सोचा जाए तो इतनी भारी मात्रा में रसायनों के इस्तेमाल को आसानी से रोका जा सकता है। एकीकृत कीट प्रबंधन (integrated pest management) और अंतर-फसल पद्धति (inter-cropping) जैसी तकनीकों की मदद से बड़ी आसानी से जैव-विविधता को प्रोत्साहित किया जा सकता है।

टिकाऊ खेती के लिए उच्च जैव-विविधता बेहद आवश्यक है। यह पारिस्थितिकी-चक्र को सशक्त बनाता है जिसके ऊपर सारी फसलें आधारित होती हैं। पूर्वी भारत में पारंपरिक कृषि आमतौर पर पोषण से भरपूर होती है और इनमें विविध प्रकार के जीव पाए जाते हैं। इस इलाके में फसल चक्रिकरण (crop rotation), खाद का कम इस्तेमाल, और कीटनाशकों पर प्रतिबंध के कारण पारंपरिक खेती में आमतौर पर उच्च-स्तरीय जैविक गतिविधियों (जैसे बैक्टेरिया, फंगस, कुंडलपुच्छ (springtales), घुन (mites) और केंचुआ, इत्यादि) को देखा जा सकता है। जैव-विविधता के साथ-साथ पोषण के उच्च स्तर को प्रोत्साहित किया जाना बेहद आवश्यक है क्योंकि फसल के स्वास्थ्य और भू-दृश्य को बचाए रखने में इनका महत्वपूर्ण योगदान है। इस प्रकार हो सकता है कि जैव-विविधता का फसल उत्पादन के साथ कोई सीधा संबंध नहीं हो परंतु यह खेती को टिकाऊ और स्वस्थ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

आधुनिक किसान टिकाऊ तकनीकों को अपना कर कृषि के बुरे प्रभावों को महत्वपूर्ण रूप से कम कर सकते हैं।

जैव-विविधता के अलावा टिकाऊ खेती का संबंध मिट्टी की गुणवत्ता से भी है। पारंपरिक खेती में मिट्टी की पारिस्थितिकी मजबूत होती है क्योंकि इसमें एकरूपता के बदले जैव-विविधता को बढ़ावा दिया जाता है। अध्ययनों से पता चलता है कि जैविक मिट्टी के अंदर नाइट्रोजन और घुलनशील जैविक कार्बन का स्तर काफी अधिक होता है। इन पोषक तत्वों की सघनता अधिक होने की वजह से ही मिट्टी में जैव-भार (बायोमास) और खाद्य-शृंखला (food web) की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार आधुनिक फसलों के मुकाबले टिकाऊ खेती ज्यादा स्थाई होती है क्योंकि यह आसपास के भू-दृश्य के अनुकूल होती है और अपने पोषकतत्वों और बायोमास को बचा कर रखती है।

मौजूदा समय में मिट्टी का प्रबंधन बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि वैश्विक स्तर पर कृषि उत्पादन बढ़ता जा रहा है और कृषि भूमि घटती जा रही है। खेती के टिकाऊ तरीकों—जैसे बिना जुताई की खेती, कृषि-वानिकी और एकीकृत कीट प्रबंधन इत्यादि के मदद से मिट्टी की गुणवत्ता को बढ़ाया जा सकता है। मिट्टी के नजरिये से टिकाऊ खेती ही खाद्य उत्पादन का सबसे प्रभावशाली तरीका है। कृषि भूमि में वृक्ष लगाकर हम कृषि को कई

दुष्प्रभावों से बचा सकते हैं। इसी तरह मिट्टी, पानी, और हवा की गुणवत्ता का सुधार, जैव-विविधता का प्रोत्साहन, कीटों और बीमारियों का प्राकृतिक उपचार, रसायनों का न्यूनतम प्रयोग, बेहतर पोषण-चक्रण का इस्तेमाल, और स्थानीय और वैश्विक जलवायु को सुधार कर हम अपनी कृषि को और सशक्त बना सकते हैं। अध्ययनों से यह पता चला है कि जैव-विविधता में वृद्धि और रसायनों में कटौती की मदद से हम आधुनिक खेती में भी मिट्टी की गुणवत्ता को सुधार सकते हैं और इस प्रकार फसल के उत्पादन को भी बढ़ा सकते हैं।



चित्र : रसायनिक खाद और कीटनाशकों के अत्यधिक इस्तेमाल के कारण मिट्टी की गुणवत्ता में गिरावट

कृषि की एक मुख्य समस्या है मिट्टी का कटाव, जो पोषण की कमी, लवणयुक्त सूखा के कारण होता है। मिट्टी का कटाव कृषि के लिए एक बड़ी चुनौती है। सघन खेती से यह स्थिति और गंभीर हो जाती है क्योंकि इससे आने वाले समय में खाद्य उत्पादन की स्थिरता खतरों में पड़ जाती है। विशेष रूप से सुखा जैसी गंभीर जलवायु घटनाओं के संदर्भ में यह एक बड़ी चिंता का विषय है। पारंपरिक खेती की मदद से मिट्टी की संरचना को सुधार सकते हैं जिससे मिट्टी के कटाव को रोका जा सकता है। ज्यादा मात्रा में पौधे लगाकर और बायोमास (biomass) बढ़ाकर मिट्टी के कटाव को आसानी से रोका जा सकता है। आधुनिक कृषि व्यवस्था मौजूदा भू-दृश्य के अनुरूप अपने आप को ढालने की बजाए इसे पूरी तरह से बदल देता है। इसमें मिट्टी के ऊपर तीन गुना ज्यादा बुरा प्रभाव पड़ता है।

पारंपरिक या टिकाऊ खेती के मुकाबले आधुनिक खेती कृषि भू-दृश्य को बनाए रखने में पूरी तरह से नाकामयाब है। इस प्रकार जमीन और अन्य गैर-अक्षय संसाधनों का उपभोग किए बिना बढ़ती जनसंख्या की मांगों को पूरा करने में आधुनिक खेती असमर्थ है।

वैश्विक स्तर पर पानी एक अक्षय संसाधन है जो हमारी मौजूदा जनसंख्या की जरूरतों को पूरा कर सकता है। पर स्थानीय स्तर पर पानी एक सीमित संसाधन है और इसका उचित एवं योग्य इस्तेमाल किया जाना चाहिए। वैश्विक स्तर पर पीने के लिए साफ पानी की मात्रा कम है ही पर क्षेत्रीय स्थितियों के कारण इस पानी की उपलब्धता और भी मुश्किल हो जाती है। इस सीमित संसाधन के संरक्षण के लिए विशेष रूप से कृषि में उपयुक्त तकनीकों का विकास व इस्तेमाल करना चाहिए। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और झारखंड के कई इलाकों में पानी का स्तर तेजी से गिर रहा है। पश्चिम बंगाल के मामले में यह स्थिति इतनी गंभीर नहीं है, पर फिर भी यह एक चिंता का विषय है।

आधुनिक खेती के मुकाबले टिकाऊ खेती में वनस्पति और प्राणी जीव की प्रचुरता के कारण मिट्टी में ज्यादा पानी रोकने की क्षमता होती है। टिकाऊ खेती की इस खासियत से सुखा जैसी स्थिति में भी आधुनिक व्यवस्था की तुलना में पैदावार ज्यादा होती है। किसी भी कृषि भूमि का यह एक अहम गुण है क्योंकि यह बदलते जलवायु के संदर्भ में फसलों की सहनशीलता को मजबूत करता है। झारखंड के समशीतोष्ण जलवायु (temperate climate) में भारी चिकनी मिट्टी में पानी धारण करने की क्षमता जैविक खेती वाली मिट्टी में आधुनिक खेती के मुकाबले 20 से 40 प्रतिशत ज्यादा होती है। जैविक फसलों में मिट्टी की पानी को रोकने की इसी क्षमता को ज्यादा उत्पादन का मुख्य कारण माना जाता है। इसलिए उपलब्ध जल संसाधन के आधार पर भी टिकाऊ खेती ही पूरे विश्व का पेट भरने के लिए उपयुक्त तरीका है।

मौजूदा उत्पादन दर और संभावित उत्पादन दर में अभी भी थोड़ा अंतर है। पानी और मिट्टी के बेहतर प्रबंधन से कहीं ज्यादा उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है। कृषि क्षमता को 100 प्रतिशत तक बढ़ा देना सब समय संभव नहीं होता परंतु टिकाऊ और पारंपरिक खेती के तरीकों को अपनाकर हम संसाधनों को संरक्षित कर सकते हैं और साथ ही बेहतर उत्पादन भी प्राप्त कर सकते हैं। भविष्य की खाद्य मांगों को पूरा करना एक निरंतर चुनौती है जिसके लिए हमें सभी पक्षों के ऊपर गौर करना होगा। पानी और मिट्टी संरक्षण इनमें सबसे प्रमुख हैं।

टिकाऊ या पारंपरिक खेती पूरी तरह से प्राकृतिक प्रक्रियाओं और पोषक तत्वों के पुनर्चक्रण पर आधारित है जिसमें गैर-अक्षय संसाधनों का इस्तेमाल नहीं किया जाता है। इसके विपरीत आधुनिक कृषि में खाद्य उत्पादन और परिवहन के लिए भारी मात्रा में ऊर्जा का इस्तेमाल किया जाता है। कृषि में ऊर्जा का उचित इस्तेमाल काफी महत्वपूर्ण है क्योंकि इसकी मदद से ग्रीनहाउस गैस उत्सर्जन को कम किया जा सकता है। इससे उत्पादन खर्च को भी कम किया जा सकता है। कृषि कार्यों से अंदाजन 5 प्रतिशत मानव-जनित कार्बन डाईऑक्साइड (CO₂) गैस का उत्सर्जन होता है। कुल मानव-जनित ग्रीनहाउस गैस (GHG) का करीब 10-12 प्रतिशत उत्सर्जन भी कृषि कार्यों द्वारा ही होता है। करीब-करीब सारी मानव-जनित मिथेन गैस और एक से दो तिहाई नाइट्रस ऑक्साइड गैस के उत्सर्जन के पीछे भी कृषि का ही हाथ है। टिकाऊ तरीकों की मदद से हम इन दुःप्रभावों से बच सकते हैं। कृषि भूमि प्रबंधन के पारंपरिक तरीकों से हम इन हानिकारक गैसों के प्रभावों को काफी हद तक कम कर सकते हैं।

आधुनिक खेती की तुलना में टिकाऊ और पारंपरिक खेती में ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन को तेजी से कम करने की क्षमता होती है, क्योंकि इसमें खेती के लिए बहुत ज्यादा बाहरी सामग्रियों की जरूरत नहीं पड़ती। परंतु आधुनिक खेती में मिट्टी की संरचना, निरंतर उच्च उत्पादन, और फसल को बनाए रखने के लिए अत्यधिक ऊर्जा की खपत के कारण, यह कार्बन उत्सर्जन को कम कर पाने में सक्षम नहीं है। आधुनिक तरीकों में मशीन, कीटनाशक, सिंचाई, प्रसंस्करण और परिवहन का इतना ज्यादा इस्तेमाल होता है कि प्रत्येक कैलोरी खाद्य ऊर्जा को तैयार करने के लिए कम से कम 10 कैलोरी ऊर्जा की खपत होती है। ऐसे कई उपाय मौजूद हैं जिनकी मदद से ऊर्जा दक्षता बढ़ाई जा सकती है। इस कार्बन को SOM की मदद से मिट्टी में ही रखा जा सकता है। फसल आवर्तन जैसी प्रक्रियाओं के जरिए बायोमास बढ़ाकर, हरी खाद के इस्तेमाल, कृषि-वानिकी और संरक्षण-जुताई पद्धति की मदद से कार्बन उत्सर्जन को कम किया जा सकता है।

आधुनिक खेती में देखा जाए तो ऊर्जा का कुल नुकसान ही होता है परंतु टिकाऊ पद्धतियों की मदद से हम लागत कम कर सकते हैं और आस-पास के भू-दृश्य को फायदा पहुंचा सकते हैं।

टिकाऊ और पारंपरिक खेती का उद्देश्य पर्याप्त मात्रा में उत्पादन के साथ-साथ भू-दृश्य की संरचना को मजबूत बनाना होता है। आधुनिक कृषि की तुलना में यह सफल तरीका है क्योंकि इसमें बाहर से रसायन या खाद की जरूरत नहीं पड़ती, जो ग्रीन हाउस गैस उत्सर्जन के लिए जिम्मेदार है। ऊर्जा दक्षता हासिल करने के लिए लागत और उत्पादन के अनुपात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए। इस प्रकार अगर ऊर्जा दक्षता को नापने के लिए उत्पादन को ऊर्जा लागत से विभाजित किया जाए तो हम पाएंगे की जैविक पद्धति में आधुनिक पद्धति के तुलना में ऊर्जा दक्षता कहीं ज्यादा है, हालांकि इन में उत्पादन भी थोड़ा कम ही होता है। इसका मतलब यह है कि आधुनिक खेती में ऊर्जा का कुल उत्पादन तो ज्यादा होता है पर ऊर्जा दक्षता के मामले में जैविक खेती ही आगे है।

ज्यादातर समय सरकार केवल उत्पादन के आंकड़ों को ही देखती है। कृषि योजना बनाने के लिए पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश को आदर्श माना जा रहा है। इसलिए पूर्वी भारत में भी हरित क्रांति को लागू करने की बात चल रही है। हालांकि कुछ राज्यों द्वारा थोड़ी बहुत सावधानियां बरती गई हैं लेकिन वे भी बाजार आधारित खेती को ही प्रोत्साहित कर रहे हैं जो न सिर्फ पर्यावरण के लिए हानिकारक है बल्कि किसानों और सामान्य लोगों के ऊपर भी बुरा प्रभाव डालता है।

बिहार जैसे राज्यों ने आनुवंशिक फसलों पर रोक लगा रखी है परंतु उच्च-उत्पादन वाली किस्मों (HYV) को अनुमति प्राप्त है। यहां के किसान गेहूं के उत्पादन में पंजाब और हरियाणा के साथ होड़ लगा रहे हैं, जो संभव नहीं है क्योंकि बिहार की मिट्टी अलग है और यह धान उत्पादन और सब्जियों की फसलों के लिए ज्यादा अनुकूल है। बिहार पहले से ही सूखा और बाढ़ संभावित क्षेत्र है। अप्रत्याशित जलवायु ने यहां की फसलों को और भी ज्यादा नाजुक बना दिया है। ऐसी स्थितियों में उच्च-उत्पादन वाली किस्मों मुश्किल से ही बच पाती हैं। दूसरी तरफ कई पारंपरिक बीजों में अत्यधिक गंभीर मौसम में भी बच जाने की क्षमता होती है। हां, उनके उत्पादन पर जरूर थोड़ा असर पड़ता है परंतु काम चलाने के लिए पर्याप्त पैदावार हो जाती है। कृषि के क्षेत्र में बिहार सरकार मशीनों तथा अन्य तकनीकों के ऊपर सब्सिडी द्वारा दूसरे घटकों को भी प्रोत्साहित कर रही है। कई कंपनियों को कृषि विकास के नाम पर सरकारी योजना से अनुदान मिल रहा है और वे किसानों को महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहे हैं।

पश्चिम बंगाल सरकार भी आनुवंशिक फसलों के खिलाफ है परंतु बिहार सरकार की ही तरह यह भी उच्च-उत्पादन वाली किस्मों को बढ़ावा दे रही है। हालांकि यहां जल प्रबंधन और वितरण बिहार और उत्तर प्रदेश की तुलना में काफी अच्छा है। पर बीजों की उन्नत किस्मों के लिए ज्यादा से ज्यादा खाद, कीटनाशक, और शाकनाशक की जरूरत पड़ती है। इन नए बीजों में कीटों और बीमारियों से लड़ने की प्रतिरोधक क्षमता कम होती है। दो-तीन वर्षों में ज्यादातर कीड़े-मकोड़ों कीटनाशकों और दवाइयों के प्रति अपनी प्रतिरक्षा क्षमता विकसित कर लेते हैं जिसके बाद उनपर इनका असर होना बंद हो जाता है।

झारखंड सरकार हरित क्रांति के नाम पर नई तकनीकों का प्रचार कर रही है। झारखंड मुख्य रूप से आदिवासी क्षेत्र है। यहां के आदिवासी समुदाय अपने पारंपरिक ज्ञान के आधार पर खेती करते आए

हैं। इसलिए उनके ऊपर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ा है। परंतु जो लोग बिहार और पश्चिम बंगाल से आकर झारखंड में बस गए हैं वे नई तकनीकों का खेती में इस्तेमाल कर रहे हैं। कई सरकारी अधिकारी और कर्मचारी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की मदद से यहां आधुनिक खेती कर रहे हैं। पश्चिम बंगाल के पास धान की सबसे ज्यादा किस्में हैं। परंतु उच्च-उत्पादन वाली किस्मों के आने से यह किस्में 3000 से घटकर मात्र 400-500 ही रह गई हैं।

आदिवासी किसान झूम खेती करते थे। वे पर्यावरण के हितैषी थे और कभी भी फसल को बाजार के लिए या मुनाफे के लिए नहीं उगाया करते थे। वे केवल अपने भोजन की जरूरतों को पूरा करने के लिए ही फसल उगाते थे और खेती के लिए जमीन को बदलते रहते थे जिससे जमीन को अपनी उर्वरकता और उत्पादकता के जीर्णोद्धार के लिए पर्याप्त समय मिल जाता था। स्थिरता झारखंड के स्थानीय लोगों के लिए सबसे प्रधान था, चाहे वह पर्यावरणीय हो या समाजिक। विविधता यहां की खेती की एक और खासियत है। अनाज से लेकर फलों तक, मसाले, सब्जियां और दवाइयां—सभी का यहां स्थानीय उत्पादन होता है और वह भी पर्यावरण और सामाजिक तानाबाना को बिना कोई नुकसान पहुंचाए।

सरकार अपना खुद का एजेंडा लागू करना चाहती है। ज्यादा मूल्य वाले उत्पादों के ऊपर ज्यादा ध्यान दिया जा रहा है और उन्हें कम मूल्य वाली किस्मों के साथ बदला जा रहा है। कई स्थानीय फल और सब्जियां जिनमें प्रचुर मात्रा में पोषण तत्व होते हैं अब लुप्त होते जा रहे हैं क्योंकि कुछ गिने-चुने फलों और सब्जियों के प्रति किसानों को आकर्षित किया जा रहा है। अगर ऐसा होता रहा तो इससे पूरा पारिस्थितिकी तंत्र नष्ट हो जाएगा जिससे समाज के ऊपर काफी गंभीर संकट आ सकता है।

“पूर्वी भारत में हरित क्रांति लाना” (बी.जी.आर.ई.आई) के साथ प्रमुख समस्या

देशभर के करोड़ों कुपोषित लोगों की भूख मिटाने के लिए और खाद्य उत्पादन बढ़ाने के लिए भारत में 1960 के दशक में हरित क्रांति की शुरुआत हुई। कई इलाकों में इस तकनीक के इस्तेमाल से उत्पादन में वृद्धि देखने को मिली परंतु अलग-अलग क्षेत्रों और समुदायों के बीच इसके लाभ समान रूप से नहीं पहुंचे।

इस योजना में बिहार और झारखंड के ऊपर काफी जोर डाला जा रहा है क्योंकि यहां हरित क्रांति से ज्यादा फायदा नहीं पहुंचा था। भारत का सबसे ज्यादा आबादी वाला क्षेत्र होने के कारण यह समझना आवश्यक है कि किसानों के ऊपर हरित क्रांति का क्या प्रभाव पड़ा था। यहां ऐसे कई लोग हैं जो अत्यधिक गरीबी में रह रहे हैं और कुपोषण के शिकार हैं और इसलिए यह जानना काफी आवश्यक है कि



कृषि उत्पादन को कैसे बढ़ाया जाए जिससे सभी किसानों को लाभ पहुंच सके। हरित क्रांति को लागू करने के बाद के दशक के अनुभवों से यह पता चलता है कि भारत के, और खासतौर से पूर्वी भारत के गंगा के मैदानी क्षेत्रों के किसानों को हरित क्रांति से समान रूप से फायदा नहीं पहुंचा।

हरित क्रांति के तरीकों का इस्तेमाल और वितरण भौगोलिक स्तर पर एक समान नहीं रहा। विभिन्न सामाजिक आर्थिक श्रेणियों के बीच भी यह एक समान नहीं पहुंचा। राज्य भर में पुराने संपत्ति के संबंधों के प्रभावों को मौजूदा जोत के ऊपर देखा जा सकता है। इसी प्रकार विभिन्न राज्यों में कृषि को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार की भूमिका का भी असर दिखता है। भौगोलिक वितरण में असमानता के मुद्दों को आगे चलकर पारिस्थितिकीय अड़चनों या किसी जमीन की हरित क्रांति तकनीकों को ग्रहण करने की क्षमता के रूप में भी विभाजित किया जा सकता है।

बिहार और झारखंड में छोटे और बड़े किसानों के बीच असमान वितरण को तीन तरह से समझा जा सकता है—(1) हरित क्रांति तकनीक का लाभ उठाने के लिए छोटे किसानों के पास पूंजी का अभाव; (2) अपर्याप्त जानकारी और तकनीकों का लागू करने के लिए छोटे किसानों के पास संसाधनों की कमी; और (3) छोटे किसानों के लिए सरकारी मदद का अभाव।

हरित क्रांति तकनीकों के असमान वितरण के कारण विभिन्न श्रेणियों के बीच सामाजिक असमानता बढ़ी है। आधुनिक तकनीक का विकास सभी को फायदा पहुंचाने के लिए किया गया था। पर इससे कुछ मुट्टी भर लोगों को ही फायदा पहुंचा।

बिहार और झारखंड में हरित क्रांति के कारण हुए स्थानिक और सामाजिक असमानता के चार प्रमुख प्रभाव देखे जा सकते हैं — (1) पारंपरिक और टिकाऊ खेती के बदले एक-फसली और अस्थायी तरीकों का इस्तेमाल; (2) हिंसा और किसानों के बीच सामुदायिक भावना का खत्म होना; (3) कई छोटे किसानों की जमीनें बड़े व्यवसायिक किसानों के पास चले जाना; और (4) छोटे किसानों की आत्महत्या दरों में वृद्धि।

पूर्वी भारत में मशीनीकरण से उपजी समस्याएं

हमेशा से यह माना गया है कि मशीनीकरण अच्छा होता है और यह खेती के लिए हमेशा फायदेमंद होता है, लेकिन इसके कुछ नुकसान भी हैं। पूर्वी भारत के पिछड़े इलाकों में जहां उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिम बंगाल जैसे अविकसित राज्य हैं, इसके ज्यादातर नुकसान ही देखने को मिले हैं, क्योंकि इसमें भारी मात्रा में शुरुआती निवेश की जरूरत पड़ती है। इसके साथ-साथ कृषि में मशीनीकरण से जुड़े कई अन्य समस्याएं भी हैं, जैसे मशीन के पुर्जों की उपलब्धता और उनका रखरखाव।

सी.एस.सी शेखर और योगेश भट्ट ने बिहार और पश्चिम बंगाल में मशीनों के इस्तेमाल से जुड़ी समस्याओं को समझने के लिए एक सर्वे किया था। इस अध्ययन से हमें मशीनीकरण की कमियों के बारे में पता चलता है। इनके अध्ययन से यह निकल कर आया कि किसानों के अनुभव के अनुसार केवल 10 प्रतिशत किसानों को पशुओं द्वारा संचालित हल महंगा लगता है और केवल 14 प्रतिशत लोगों का मानना था कि उसे किराए पर प्राप्त करने में दिक्कत आती है। बाकी 76 प्रतिशत किसानों ने इस सवाल का कोई जवाब नहीं दिया क्योंकि उनको पशुओं द्वारा संचालित हल से कोई बड़ी समस्या नहीं थी। जुताई से संबंधित गतिविधियों के लिए

करीब 26 प्रतिशत किसानों का मानना था कि ट्रैक्टर को खरीदना काफी महंगा पड़ता है तथा अन्य 14 प्रतिशत किसानों का मानना था कि ट्रैक्टर को किराए पर भी लेना बहुत महंगा पड़ता है। बचे हुए 24 प्रतिशत किसानों ने कहा कि जब सबसे ज्यादा जरूरत होती है तब ट्रैक्टर किराए पर आसानी से नहीं मिलते हैं। कुल मिलाकर यह पाया गया कि ट्रैक्टर के मुकाबले पशुओं द्वारा संचालित हल से किसानों को कहीं कम समस्याएं हैं।

इन दोनों में सबसे बड़ा फर्क यह है कि पशुओं के मुकाबले ट्रैक्टर की कीमत बहुत ज्यादा है। हालांकि यह भी सच है कि ट्रैक्टर उसी काम को तेज रफ्तार से और ज्यादा अच्छे तरीके से कर पाता है। बीजों की बुआई और रोपाई के मामले में किसी भी किसान ने मशीनों की समस्या के बारे में नहीं बताया क्योंकि इस क्षेत्र में इस तरह की गतिविधियों में मशीनों का इस्तेमाल नहीं होता है। इन कार्यों को पूरी तरह से इंसानों द्वारा अपने हाथ से ही किया जाता है। इसी तरीके से निराई में भी मशीनों का इस्तेमाल नहीं होता है।

सिंचाई संबंधी गतिविधियों के मामले में किसानों के एक बड़े तबके (41 प्रतिशत) ने कहा कि जरूरत के समय डीजल और बिजली के पम्प आसानी से किराए पर नहीं मिलते हैं। बहुत कम किसानों (6 प्रतिशत) ने यह भी कहा कि डीजल पम्प का इस्तेमाल करने के बाद भी उत्पादन दर अपेक्षाकृत कम रही। कुछ अन्य किसानों (3 प्रतिशत) के अनुसार डीजल पंप खरीदने के लिए उन्हें सरकार से कोई मदद नहीं मिलती है। इसी प्रकार कटाई



संबंधी गतिविधियों में किसानों के छोटे हिस्से (9 प्रतिशत) ने यह कहा कि हंसिए से कटाई करने पर उत्पादन अच्छा नहीं मिलता है। उनका यह मानना था कि मशीन से कटाई करने पर ज्यादा अच्छा उत्पादन प्राप्त होता है। हालांकि इनके पीछे के तर्क वास्तविकता में काफी संदेहास्पद हैं। कुटाई संबंधी गतिविधियों में जहां कुछ किसानों (32 प्रतिशत) ने यह माना है कि थ्रेशर (कुटाई) मशीन काफी महंगी है; अन्य किसानों (13 प्रतिशत) का मानना है कि इस मशीन के रखरखाव का खर्च बहुत ज्यादा है और यह एक गंभीर समस्या है। इसी तरह करीब 8 प्रतिशत किसानों का मानना है कि कुटाई मशीन किराए में आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाती है; जबकि 9 प्रतिशत किसानों का मानना है कि कुटाई मशीन से आशा के अनुरूप उत्पादन नहीं प्राप्त होता है। मार्केटिंग और परिवहन कार्यों में किसानों के छोटे हिस्से (9 प्रतिशत) के अनुसार पशु चलित ट्राली की तुलना में ट्रैक्टर ट्रॉली को खरीदना बहुत महंगा पड़ता है। साथ ही खेत से कुटाई की जगह तक ले जाने और कुटाई की जगह से मार्केट तक ले जाने के समय इन ट्रैक्टर-ट्रॉलियों को किराए पर प्राप्त करना भी बहुत मुश्किल होता है।

1960 के दशक में विकासशील देशों में कुपोषण की समस्या से निपटने के लिए हरित क्रांति की शुरुआत की गई थी। हरित क्रांति की तकनीक में उन्नत बीज शामिल हैं जो रसायन, खाद और भारी सिंचाई की मदद से फसल का उत्पादन बढ़ाते हैं। इस तकनीक को भारत के कई राज्यों में बड़ी आसानी से अपनाया गया और कहीं-कहीं तो यह काफी सफल रहा। कई किसानों के लिए हरित क्रांति की लागत का खर्च उठा पाना संभव नहीं था। इससे सामाजिक श्रेणियों के बीच का फासला बढ़ गया। अमीर और अमीर हो गए और गरीब किसान पीछे छूट गए।

यहां हम हरित क्रांति के नकारात्मक प्रभाव को जानेंगे और यह समझने की कोशिश करेंगे कि इसकी सफलताएं सभी के लिए बराबर क्यों नहीं है। विशेष रूप से बिहार और झारखंड में इसके प्रभाव कैसे रहे।

हरित क्रांति द्वारा प्रस्तावित कृषि के तरीके

हरित क्रांति में नई उन्नत बीजों के साथ-साथ रसायनिक खाद का इस्तेमाल किया जाता है। ऐसा नहीं था कि स्थानीय बीज उच्च उत्पादन वाले नहीं थे बल्कि उनके अंदर भारी रसायनों को बर्दाश्त कर पाने की क्षमता नहीं थी। खाद के साथ-साथ नई किस्मों को भी तैयार किया गया जिससे वे भारी सिंचाई की मदद से ज्यादा उत्पादन दे सकें। बीजों और खादों का अलग-अलग इस्तेमाल ज्यादा प्रभावशाली नहीं था परंतु अगर उन्हें एक साथ इस्तेमाल किया जाए तो उत्पादन कभी-कभी दोगुना या तीन गुना भी हो जाता था।

पारंपरिक खेती से अस्थायी कृषि पद्धतियों की ओर

पारंपरिक रूप से बिहार और झारखंड में छोटे-छोटे खेत थे जिनमें काफी पेड़ थे। सदियों से यहां के किसान जैविक खेती करते आए हैं। फसल चक्रण और जमीन को लंबे समय तक खाली छोड़ने से मिट्टी में पोषण तत्व वापस आ जाते थे। इसी कारण जमीन से मांग यहां कम थी और किसानों का पर्यावरण के साथ एक स्थाई रिश्ता बन जाता था। मिट्टी का संतुलन बने रहने के कारण यहां के किसान सूखा और बाढ़ जैसी विनाशकारी घटनाओं से भी जूझने में सक्षम थे।

झारखंड के जंगल प्राकृतिक रूप से बहुत संतुलित हैं। वे कृषि के लिए एक उपयुक्त पारिस्थितिकीय मॉडल प्रस्तुत करते हैं। पेड़ों की मदद से जमीन अत्यधिक ताप से सुरक्षित रहती है। ये तेज मानसून की हवाओं से भी सुरक्षा प्रदान करते हैं। वनस्पतियों की मदद से मिट्टी का कटाव नहीं हो पाता और बारिश का पानी जमीन में समा जाता है जिससे वनस्पतियों को लंबे समय तक नमी मिलती रहती है। कई



प्राकृतिक जंगल के साथ छोटे खेत

सारी वनस्पतियों के मिश्रण से मिट्टी और भी ज्यादा उपजाऊ हो जाती है। इन सभी घटकों की मदद से एक उपजाऊ पारिस्थितिकी का निर्माण हुआ है जो सदियों से चलते आ रही है और सूखा, बाढ़ और जलवायु परिवर्तन की समस्याओं से सफलतापूर्वक निपटते आ रही है।

पूर्वी भारत में हरित क्रांति लागू करने से पहले तक बिहार और झारखंड में मुख्य रूप से निर्वाह खेती होती थी जिसमें पौधों की कई स्थानीय किस्मों का इस्तेमाल किया जाता था। प्रत्येक फसल की कतार के बीच में अन्य फसलों को लगाया जाता था जिससे पानी और जमीन का बेहतर इस्तेमाल किया जा सके। 'सेंटर फॉर इंडियन नॉलेज सिस्टम्स' द्वारा किए गए अध्ययन से यह पता चलता है कि बिहार और झारखंड के अलग-अलग क्षेत्रों में हर जाति के पास प्राकृतिक संसाधनों का इस्तेमाल करने के उनके अपने नायाब तरीके होते हैं। इसी वजह से वहां संसाधनों का अत्यधिक दोहन कभी नहीं किया गया।

इस तरह छोटे समुदाय भी हमेशा आत्मनिर्भर थे और प्रत्येक व्यक्ति के पास स्थानीय अर्थव्यवस्था में भागीदारी निभाने का मौका था। परंतु हरित क्रांति से प्रभावित होकर बड़े किसान आधुनिक खेती करने लगे। अपनी पुरानी बहु-फसली पद्धति को छोड़कर वे अब एक-फसली खेती करने लगे। एक-फसली से किसानों को उस एक फसल का अधिक उत्पादन तो मिला परंतु मिट्टी के ऊपर इसके बुरे प्रभाव पड़ने लगे। एक-फसली के लिए जमीन से पेड़ों का सफाया कर दिया गया। इसी के साथ किसानों ने अपने खेतों को खाली छोड़ना बंद कर दिया जिससे मिट्टी को दोबारा पोषण प्राप्त करने के लिए समय मिलना बंद हो गया।

अलग-अलग फसलों की अलग-अलग जरूरतें होती हैं। एक साथ कई फसलों को लगाने से मिट्टी को यह मौका मिल जाता है कि वह उन पोषण तत्वों को दुबारा प्राप्त कर सके जिसकी दूसरी फसल को जरूरत नहीं है और वह अपने आप को अगली फसल के लिए तैयार कर सके। एक-फसली व्यवस्था में मिट्टी को यह समय नहीं मिल पाता है। इसके अलावा एक-फसली खेती में रसायनिक खाद की भी बहुत जरूरत पड़ती है।

हरित क्रांति के पैकेज में उन्नत बीज के साथ-साथ उत्पादन को दो से तीन गुना बढ़ाने का वायदा भी शामिल है। इसमें मिट्टी की गुणवत्ता बढ़ाने के लिए और कीटों से बचने के लिए रसायनों का इस्तेमाल किया जाता है। स्थानीय फसलें इन रसायनों को झेल पाने में सक्षम नहीं थीं, इसलिए किसानों को नए बीज खरीदने पड़े जिनके ऊपर इन रसायनों का इस्तेमाल किया जा सकता था। उच्च-उत्पादन वाली किस्मों के बीज का बहुत ही संकीर्ण आनुवंशिक आधार होता है और किसान अपने पूरे खेत में सिर्फ एक ही प्रकार के बीज बो रहे थे। इसका परिणाम यह हुआ कि कृषि व्यवस्था के साथ-साथ किसानों ने अपने बीजों को भी बदल दिया। जिन हजारों स्थानीय बीजों को सदियों से इकट्ठे किए गए ज्ञान के जरिए तैयार किया गया था, उन्हें लगाने वाला अब कोई नहीं था।

झारखंड में उन पेड़ों का भी सफाया कर दिया गया जो खेतों को सुरक्षित रखने का काम करते थे। इससे मिट्टी के कटाव का खतरा फिर से बढ़ गया और पौधों को अत्यधिक रोशनी और तेज हवाओं का सामना करना पड़ा। पारंपरिक निर्वाह खेती से हटकर औद्योगिक एक-फसली की ओर जाने के कारण छोटे किसानों के ऊपर अनेक बुरे प्रभाव पड़े। उन्हें बीज, खाद और कीटनाशक खरीदने के लिए कर्ज लेना पड़ा और जल्दी ही उन्होंने अपने आप को भारी ब्याज दरों पर कर्ज में डूबा पाया। आमतौर पर सिर्फ एक ही बनिया कर्ज देता

था, इसलिए वह मुंह मांगे दाम पर अपनी कीमत लगाता था। इन बनियों के के बीच में कोई प्रतिस्पर्धा नहीं थी, इसलिए ब्याज दर कम होने की संभावना भी नहीं थी।

हरित क्रांति तकनीक का असमान भौगोलिक वितरण

पूर्वी भारत में विभिन्न तलरूप (topography), जलवायु और मिट्टी के प्रकार या पारिस्थितिकीय अंचल मौजूद हैं। इससे जिन आधुनिक किस्मों को उच्च उत्पादन के लिए तैयार किया गया था वह सभी क्षेत्रों में समान रूप से व्यवहार्य नहीं है। जिन बीजों को विकसित किया गया था वे ऐसे नहीं थे कि सभी प्रकार के क्षेत्रों में एक ही तरीके से इस्तेमाल किए जा सकें। इस लिए 'इंटेसिव एग्रीकल्चरल डेवलपमेंट प्रोग्राम' को ऐसे मानदंड प्रदान किए गए जिनकी मदद से उन गांवों का चयन किया जा सके जहां हरित क्रांति ज्यादा कामयाब हो सकती थी।

सोरगम (sorghum), बाजरा (millet) और जौ (barley) जैसी फसलों की आधुनिक किस्में, जिन्हें पहले आमतौर पर अर्द्ध-शुष्क (semi-arid) और शुष्क-भूमि (dry land) में उगाया जाता था, उन्हें 1980 के दशक तक पूरी तरह से विकसित नहीं किया गया था और बाद में भी इन बीजों की उपलब्धता बहुत सीमित थी। सबसे ज्यादा वितरण चावल, मक्का और गेहूं का किया गया, जिन्हें ज्यादा वर्षा या भरपूर सिंचाई की जरूरत थी। पश्चिमी बिहार में अच्छी सिंचाई व्यवस्था के कारण यहां गेहूं सबसे ज्यादा सफल रहा।

इस प्रकार हम देख सकते हैं कि इन इलाकों में किसानों के पास न सिर्फ सीमित अवसर थे बल्कि हरित क्रांति का फायदा कुछ चुनी हुई भूमि को ही मिला। एक प्रमुख वजह यह भी थी कि बिहार के दक्षिण और पूर्वी भाग में सिंचाई सुविधाओं की कमी थी।

जो किसान सिंचाई का खर्च उठा पाने में सक्षम थे उन्हें भी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। उन्हें जमीन से पानी निकालने के लिए महंगे पंप खरीदने के लिए मजबूर होना पड़ा। जल-स्तर लगातार

गिरता जा रहा था। कुछ इलाकों में तो जमीन के नीचे के पानी का स्तर 3 फीट प्रति वर्ष के हिसाब से घटने लगा। पहले जो काम 10 फुट की खुदाई में चल जाता था, अब उन खेतों में 200 फुट से भी ज्यादा गहरी ड्रिल करनी पड़ रही है। इसके लिए और भी ज्यादा महंगे औजारों की जरूरत पड़ती है।

फसल आवर्तन और विभिन्न फसलों की खेती के पारंपरिक तरीकों को इस्तेमाल कर पर्यावरण को बचाने के



मुजफ्फरपुर गांव में सिंचित खेत

बजाय असमान भौगोलिक वितरण की समस्या से निपटने के लिए कृषि-वैज्ञानिक नई फसलों को विकसित करने में जुट गए जो विपरीत या प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने आपको ढाल सकें। पर इन्हें भारी सिंचाई और असीमित खाद और कीटनाशकों की जरूरत पड़ती थी। इससे किसानों के बीच असमानता और बढ़ गई। जो इस तकनीक का खर्चा उठा सकते थे वे आगे बढ़ गए और जिनके पास ज्यादा पैसे नहीं थे वे पीछे रह गए।

बड़े व्यवसायिक खेतों के लिए छोटे खेतों का नुकसान

खाद्य उत्पादन बढ़ाने और भुखमरी हटाने के लिए जिन तरीकों की बात हरित क्रांति करता है उसमें उन्नत बीज और रसायनों का इस्तेमाल शामिल है। परंतु इस प्रक्रिया में छोटे किसान पीछे रह गए। उन्हें हरित क्रांति तकनीक को अपनाने के लिए या तो कर्ज लेना पड़ा या जमीन बेचनी पड़ी। छोटे किसान और ज्यादा गरीब हो गए। कई अध्ययनों से यह पता चलता है कि बिहार और झारखंड जैसे राज्यों से भारी मात्रा में लोग मुंबई, दिल्ली, चंडीगढ़ और कोलकाता जैसे बड़े शहरों की ओर पलायन करने को मजबूर हो गए।

हरित क्रांति से हम तीन प्रमुख सबक सीख सकते हैं :

पहला, जहां खेती की जमीन को किसी भी अन्य उत्पाद की तरह खरीदा और बेचा जा सके और कुछ मुट्टी भर लोगों के हाथ असीमित मात्रा में जमीन चली जाए; इससे पारिवारिक खेतों की जगह बड़े-बड़े खेत बन रहे थे जिसका असर पूरे समाज को भुगतना पड़ रहा है। दूसरा, जहां मुख्य उत्पादकों (छोटे किसान और खेतिहर मजदूर) के पास मोल-भाव की कोई ताकत नहीं है और खाद्य



व्यापारियों और कृषि-सामग्री विक्रेताओं का अधिपत्य है। खेती में उत्पादकों का हिस्सा लगातार सिकुड़ता जा रहा है। तीसरा, जहां हावी तकनीकों के कारण मिट्टी खराब हो रही है और कीटों व खरपतवार की समस्या बढ़ती जा रही है और इस तरह भविष्य के लिए उत्पादन के आधार नष्ट होते जा रहे हैं। इसके साथ-साथ उत्पादन स्तर को बनाए रखना लगातार मुश्किल व खर्चीला होता जा रहा है।

मोन्कंबु सांबशिवन स्वामीनाथन, जिन्हें भारत में हरित क्रांति का जनक माना जाता है, का भी यह मानना है कि यह शायद भारतीय कृषि के लिए हरित क्रांति सबसे सही उपाय नहीं है। इसके लिए वे औद्योगिकरण और एक-फसली (मोनोकल्चर) को जिम्मेदार ठहराते हैं जिन्हें हरित क्रांति के जरिए भारत में लागू किया गया और जिसके परिणाम स्वरूप भू-जल स्तर गिर गए और मिट्टी से पोषक तत्व नष्ट हो गए।

इसके अलावा बिहार और झारखंड में, जहां अधिकांश किसान छोटे व सीमांत श्रेणी के हैं, इन तकनीकों ने एक दोषपूर्ण चक्र की शुरुआत की जिसमें किसान एक-फसली (मोनोकल्चर) और खाद के अत्यधिक इस्तेमाल के दुष्प्रभावों से बचने के लिए रसायनों के ऊपर ज्यादा से ज्यादा खर्च करने के लिए मजबूर हो गए।

आज बिहार एवं झारखंड में जल संसाधन दुर्लभ और महंगे हैं। बड़े खेतों को तो फायदा हो जाता है क्योंकि वे नहर सिंचाई का खर्च उठा सकते हैं पर छोटे किसानों को सिंचाई के लिए भारी ब्याज दरों पर कर्ज लेना पड़ता है। कीथ ग्रिफिन बताते हैं कि ग्रामीण क्षेत्रों में असमानता के पीछे एक बड़ा कारण यह है कि छोटे व गरीब किसानों के पास तकनीकी जानकारी और उत्पादन के लिए जरूरी औजार उपलब्ध नहीं होते हैं। जितनी सहजता से पढ़े-लिखे भू-स्वामी इन्हें प्राप्त कर सकते हैं, उतनी आसानी से ग्रामीण गरीबों को यह सब नहीं मिलता (Griffin 1979: 216)।

इससे यह पता चलता है कि केवल बड़े और मध्यम किसान ही हरित क्रांति के लिए आवश्यक सामग्रियों को खरीद पाने में सक्षम हैं। अन्य शब्दों में, हरित क्रांति की रफ्तार के साथ चल पाना छोटे किसानों के बस की बात नहीं है। बिहार और झारखंड जैसे पिछड़े राज्यों में ऋण प्राप्त करने के लिए किसानों को या तो जमीन का मालिक होना पड़ता है या फिर उनके पास कानूनन पट्टे पर ली गई जमीन होनी चाहिए ताकि उन्हें गिरवी पर रखा जा सके। बीजों और रसायनों की व्यापारिक खरीद के लिए चल-अचल संपत्ति की बड़ी भूमिका है जो किसानों को स्थायित्व प्रदान करते हैं ताकि वे खरीद-फरोख्त के लिए उपयुक्त समय का इंतजार कर सकें।

शिक्षा के नजरिये से बिहार और झारखंड भारत के सबसे पिछड़े इलाकों में से एक हैं जहां आधी से भी ज्यादा आबादी निरक्षर है। अनपढ़ किसानों के पास ज्ञान और जानकारी का अभाव होता है। इनके पास तकनीकों एवं उसके इस्तेमाल के बारे में सीखने की क्षमता भी नहीं होती है।

छोटे किसानों को खाद के अत्यधिक इस्तेमाल के बुरे प्रभाव भी झेलने पड़ते हैं जिससे मिट्टी नष्ट हो जाती है और उसका सीधा असर जमीन पर पड़ता है। नए बीज भारी मात्रा में खाद के ऊपर निर्भर होते हैं जिससे मिट्टी में नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, आयरन और मैंगनीज जैसे पोषक तत्व खत्म हो जाते हैं। ऐसे में किसानों को और ज्यादा खाद डालना पड़ता है ताकि इन पोषक तत्वों की भरपाई हो सके और पौधे ठीक तरह से पनप सकें।

इसके अलावा कीटनाशक और शाकनाशक के कारण पौधों में प्रतिरोध की क्षमता बढ़ जाती है। इसलिए और अधिक मात्रा में रसायनों का छिड़काव करना पड़ता है। इस प्रकार लगातार बढ़ते जा रहे खर्चों से निपटने में किसानों को काफी मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। वे इस नई तकनीक के ऊपर पूरी तरह से निर्भर हो जाते हैं। हरित क्रांति की महंगी तकनीकी को समृद्ध किसान व संपन्न इलाके ही पसंद हैं। संसाधन हीन क्षेत्रों में गरीब छोटे किसानों से इसका ज्यादा वास्ता नहीं रहा है (Shiva 1993: 45)।

सीमित संसाधनों के कारण किसानों के बीच प्रतिस्पर्धा बढ़ने लगी जिससे सामाजिक श्रेणियों और भौगोलिक क्षेत्रों के बीच फासले और बढ़ने लगे। एक ऐसी व्यवस्था में जहां प्रतिस्पर्धा में बने रहने के लिए किसानों को

महंगे औजार खरीदना आवश्यक है वहां छोटे किसानों को बनियों और सूदखोरों के दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं। यह सूदखोर अत्यधिक ब्याज दरों पर कर्ज देते हैं। कभी-कभी तो ये मजबूरी का फायदा उठाकर बैंक से दुगनी ब्याज दरों पर कर्ज देते हैं।

पूर्वी भारत में कृषि का ज्ञान पारंपरिक रूप से सामाजिक और सांस्कृतिक ढांचे से होता हुआ लोगों तक पहुंचा है। हरित क्रांति और कृषि के व्यवसायीकरण के कारण किसानों को पारंपरिक कृषि ज्ञान को छोड़कर आधुनिक पद्धति अपनाने में काफी दिक्कतों का सामना करना पड़ रहा है। किसान अब बाजार के विज्ञापनों पर ज्यादा निर्भर हैं। कृषि कंपनियों के बीच प्रतिस्पर्धा का सीधा असर इनके ऊपर पड़ने लगा है। इनके जाल में फंसकर किसानों को लगातार नए व्यवसायिक बीज, कीटनाशक और खाद खरीदते रहना पड़ता है।

कृषि के ये नए तरीके सब समय प्रशिक्षण और आवश्यक जानकारी के साथ नहीं आते हैं। कई अध्ययनों से यह पता चला है कि किसानों के पास कीटनाशकों और अन्य व्यापारिक सामग्रियों को इस्तेमाल करने की पूरी जानकारी नहीं है। खाद और कीटनाशकों की मात्रा जानने के लिए मिट्टी की जांच आवश्यक है। बहुत सारे छोटे किसान इस प्रक्रिया से बिल्कुल अनभिज्ञ हैं। उन्हें कुछ पता नहीं होता कि वे अपने खेतों में किन चीजों का और कितनी मात्रा में इस्तेमाल करें। दरअसल किसानों के बीच बढ़ती कर्ज कि समस्या का एक प्रमुख कारण यही है। कई बार वे बिना वजह ही भारी मात्रा में कीटनाशकों का छिड़काव करने लगते हैं।

हरित क्रांति के राजनीतिक अर्थशास्त्र को देखा जाए तो यह स्पष्ट हो जाएगा कि भारत के छोटे किसानों की तुलना में बड़े और धनी किसानों का राजनीति के अंदर ज्यादा बोलबाला है। सरकारी नीतियां उन लोगों के हित में बनती हैं जो सरकार को समर्थन देते हैं। बिहार और झारखंड में यह समर्थन स्थानीय अभिजात वर्ग से आता है। इसलिए आर्थिक नीतियों में इनका हित शामिल होता है। बड़े और धनी भूमिधारी ही अक्सर ऋण दाता या सूदखोर होते हैं। यही वर्ग आमतौर पर सारे प्रमुख राजनीतिक निर्णयों को या तो सीधे प्रभावित करता है या पैसे के बल पर उन लोगों को प्रभावित करता है जो इन नीतियों को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं।

छोटे किसानों के लिए यह सब कर पाना बिल्कुल संभव नहीं होता क्योंकि न तो उनके पास जमीन की मिल्कियत होती है और न ही उनके पास स्थितियों को बदलने के लिए सामाजिक प्रतिष्ठा। सरकार भी उन लोगों के हित में काम करती है जिनसे उन्हें जरूरत पड़ने पर सहायता मिलने की आशा होती है।

1970 और 1980 के दशक में बड़ी मात्रा में छोटे किसान इस प्रतिस्पर्धा से बाहर हो गए। वर्ष 1984 में बिहार में 24 प्रतिशत छोटे किसान और 31 प्रतिशत सीमांत किसान गरीबी रेखा के नीचे रह रहे थे। वर्ष 1977 से 1989 के बीच बिहार में प्रति हेक्टेयर आमदनी में तो वृद्धि हुई पर खेती से कुल आर्थिक लाभ में गिरावट आई। बाहरी सामग्रियों का खर्च केवल कर्ज के द्वारा ही संभव था जिससे कई किसानों में कर्जदारी बढ़ गई क्योंकि मिट्टी नष्ट होने के कारण और अधिक रसायनों का छिड़काव करना पड़ रहा था जिनके दाम बढ़ते जा रहे थे।

वर्ष 1984 में ऐसे कई मामले सामने आए जिसमें बिहार के कई इलाकों में छोटे भूमिधारी किसान अपनी जमीन धनी किसानों को पट्टे पर देकर खुद उसी जमीन पर मजदूरों की तरह काम करने को मजबूर हो गए। इससे वे अपनी जमीन से थोड़े बहुत पैसे कमा पा रहे थे क्योंकि उनके पास हरित क्रांति की सामग्रियों को

खर्च उठा पाने की क्षमता नहीं थी।

कृषि से मुनाफे में वृद्धि के कारण कई भूमिधारी को खेती में नई रुचि पैदा हुई। उन्होंने जमीन से किराएदार को बाहर निकाल दिया और खुद अपनी जमीन पर खेती करने लगे। इससे छोटे किसानों के पास खेती के लिए अब और भी कम जमीन थी क्योंकि बड़े किसान और भूमिधारी अपनी जमीन को खुद के इस्तेमाल के लिए वापस हथिया रहे थे। कहीं-कहीं भूमिधारी उनसे ज्यादा किराया या फसल का हिस्सा मांग रहे थे या अपने अलग-अलग भूखंडों में किराएदारों को आपस में बदल रहे थे जिससे वे जमीन पर अपना हक न सिद्ध कर पाए।

सामाजिक ढांचे के ऊपर प्रभाव

बिहार में 1980 और 1990 के दशक के दौरान जो हिंसा हो रही थी, वह सिर्फ जातियों के बीच टकराव नहीं था; उस वक्त चारों ओर फैली अशांति का एक प्रमुख कारण हरित क्रांति और उससे निकली पारिस्थितिकीय और राजनीतिक मांग भी थी। खराब मिट्टी और कीटों से ग्रस्त फसलों के कारण उपजे कर्ज की स्थिति में किसानों को उनके हाल में छोड़ दिया गया। इससे किसानों का मोह भंग हो गया और कृषक समुदाय के बीच तनाव बढ़ गया।

आधुनिक तकनीक के आने से पारंपरिक खेती का ज्ञान खत्म होने लगा। इससे कृषि समाज के अंदर और भी जादा दरारें पड़ने लगी।

पारस्परिक संबंध

खेती न सिर्फ आजीविका का साधन था बल्कि एक दूसरे से जुड़ने का जरिया भी था। बाहरी सामग्रियों के आने से न सिर्फ गांव के परिस्थितिकी के ऊपर बुरा प्रभाव पड़ा बल्कि उससे पूरा सामाजिक ढांचा भी प्रभावित हुआ। हरित क्रांति के पहले किसान गांव के अंदर अपने आपसी संबंधों के ऊपर निर्भर थे। परंतु हरित क्रांति ने उन्हें मुख्य रूप से बैंक और कृषि कंपनियों के साथ लेन-देन करने के लिए मजबूर कर दिया जिससे उनके आपसी संबंध कमजोर होते चले गए।

वर्ग संघर्ष और हिंसा

बिहार और झारखंड के किसान बढ़ते तनाव और हिंसा के बीच में फंस गए। वहां पर वर्ग संघर्ष और जल संसाधनों के ऊपर झगड़े होने लगे। किसानों का निचला वर्ग और कंगाल हो गया और मजदूरों के बदले मशीनों का इस्तेमाल होने लगा। जाति, धर्म और सांस्कृतिक संबंधों से जुड़े झगड़े भी सामने आने लगे। हरित क्रांति के कारण सारे संबंधों का व्यवसायीकरण हो गया और एक प्रकार का नैतिक खोखलापन तैयार हुआ जहां हर एक वस्तु की कीमत थी। केंद्र और राज्य के बीच में राजनीतिक और आर्थिक शक्ति के विभाजन से जुड़े तनाव भी बढ़ने लगे थे (Shiva 1993)।

हरित क्रांति के पहले तक किसान अंदरूनी सामग्रियों का ही इस्तेमाल करते थे और वे स्थानीय स्तर पर संगठित थे। हरित क्रांति के आने से यह सब बदल गया। अब खेती का केंद्रीकृत नियंत्रण होने लगा था और बाहरी सामग्रियों पर निर्भरता बढ़ने लगी थी। इससे सामाजिक संबंधों का विघटन होने लगा, सामुदायिकता

का भाव खत्म होने लगा और हिंसा में उग्रता बढ़ने लगी। वर्ष 1986 में बिहार में हुई किसानों के बीच हिंसा में करीब 598 लोगों की मौत हुई। वर्ष 1987 में यह संख्या बढ़कर 1544 हो गई और वर्ष 1988 में इस हिंसा के कारण केवल बिहार में 3000 लोगों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा।

लिंग असंतुलन

भारी और जटिल मशीनों, शाकनाशकों कीटनाशकों के कारण कृषि में महिलाओं की भूमिका पहले से कम हो गई। पारंपरिक खेती में महिलाएं पुरुषों के साथ मिलकर काम करती थीं। रोपाई, निराई तथा अन्य तकनीकी व समय लगने वाला काम में महिलाएं माहिर थीं। कई महिलाएं तो फसलों का ढेर को अपने सिर में लादकर खेत से घर तक भी ले आती थीं। कृषि में महिलाओं का एक अहम योगदान था और यह उन्हें एक सामाजिक प्रतिष्ठा भी प्रदान करता था। उत्पादन प्रक्रिया का अभिन्न अंग होने के कारण महिलाओं का परिवार के अंदर बराबर का दर्जा होता था।

‘ग्रीनपीस’ संस्था के इश्तेयाक अहमद के अनुसार पंजाब और हरियाणा में कन्या भ्रूण हत्या और लिंग असंतुलन का सीधा संबंध हरित क्रांति के साथ है क्योंकि इन क्षेत्रों में शाकनाशक के छिड़काव से और खेतों में मशीनों के इस्तेमाल से महिलाएं घर के अंदर बंद होकर रह गई थीं। अधिकतर महिलाएं ज्यादा पढ़ी-लिखी नहीं थीं। जो पढ़ी-लिखी थीं उन्हें भी घर के काम के अलावा कोई दूसरा काम करने की इजाजत नहीं थी। लड़कियों को परिवार के ऊपर बोझ समझा जाने लगा क्योंकि परिवार की आमदनी में उनका कोई योगदान नहीं था।

उन्होंने यह भी बताया कि पूर्वी



पारंपरिक खेती में पुरुषों के साथ हाथ बंटाती महिलाएं

भारत में दहेज प्रथा में वृद्धि और दहेज के कारण हुई मौतों का भी सीधा संबंध कृषि में आए परिवर्तन के साथ है। पहले लड़कियों का पढ़ा-लिखा न होना एक सामाजिक समस्या थी क्योंकि उन्हें पढ़ाई करने के लिए बाहर जाने की इजाजत नहीं थी, पर आजकल लड़कियों की पढ़ाई को एक आर्थिक बोझ के रूप में देखा जाता है। उत्तर प्रदेश, बिहार और झारखंड जैसे राज्यों में अधिकांश परिवार गांव में खेती के ऊपर निर्भर हैं। नई तकनीकों के कारण महिलाएं खेती से बाहर आ गई हैं जिससे परिवार के अंदर उनके साथ भेदभाव शुरू हो गए हैं।

निष्कर्ष

विकासशील देशों में भुखमरी और गरीबी को मिटाने के उद्देश्य से कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए तकनीकों को विकसित करने के पीछे हो सकता है कि हरित क्रांति के निर्माताओं की मंशा बिलकुल साफ हो। इस काम में वे पूरी तरह से असफल भी नहीं हुए। उनके द्वारा तैयार किए गए आधुनिक बीजों से उत्पादन और मुनाफे में सचमुच वृद्धि हुई और साथ में कीमतें भी घटी। परंतु इसके साथ-साथ कई दुष्परिणाम भी सामने आए।

भारत में, खासतौर से पूर्वी भारत में, एक मजबूत और टिकाऊ कृषि व्यवस्था के अभाव में हरित क्रांति के लिए यह बहुत मुश्किल हो गया कि वह सभी को समान रूप से फायदा पहुंचा सके। यह पूर्वी भारत की कठोर सामाजिक संरचना के कारण भी हुआ जिसमें गरीबों के लिए अपनी सामाजिक स्थितियों को सुधार पाना संभव नहीं था। जिनके पास पैसा था, उन्हीं के पास भूमि भी थी और वे बड़ी आसानी से बीजों और रसायनों का खर्च उठा सकते थे और हरित क्रांति के बाजार में टिक सकते थे। जिन किसानों के पास पैसा नहीं था उन्हें तकनीकों का खर्च उठाने के लिए सूदखोरों और साहुकारों का सहारा लेना पड़ा। इससे वे कर्ज में डूबते चले गए। उन्हें बड़े किसानों से मुकाबला करने के लिए और बाजार में टिके रहने के लिए तकनीकों को उधार में खरीदना पड़ा। इस कर्ज के कारण हरित क्रांति से मिली हर आर्थिक सफलता धूमिल होती गई।

जैसे ही किसान हरित क्रांति के बाजार में शामिल होने के लिए जरूरी औजारों और तकनीकों को हासिल कर लेता है, उसी वक्त वह एक ऐसे चक्रव्यूह में फंस जाता है जिससे बाहर निकल पाना उसके लिए नामुमकिन होता है। हरित क्रांति के उन्नत बीजों के लिए ज्यादा सिंचाई और अधिक मात्रा में रसायनों की जरूरत पड़ती है। एक बार किसान जब इन रसायनों को मिट्टी में डाल देता है तो फिर मिट्टी खराब होती जाती है और उसके पोषक तत्व नष्ट होते जाते हैं। इस नुकसान से बचने के लिए उन्हें और ज्यादा खाद का छिड़काव करना पड़ता है। साथ ही कीटनाशकों के इस्तेमाल से धीरे-धीरे कीटों में प्रतिरोधक क्षमता विकसित होने लगती है। यह खतरनाक चक्र धीरे-धीरे और ज्यादा रसायनों के इस्तेमाल को बढ़ावा देता है।

अंततः हरित क्रांति का विचार और अवधारणा देखने में हो सकता है कि सभी के लिए फायदेमंद लगे पर जब इसे लागू किया गया तो पता चला कि ऐसा नहीं है। अगर पूरे विश्व से गरीबी और भुखमरी को प्रभावशाली ढंग से हटाना है तो शोधकर्ताओं को एक ऐसी प्रणाली विकसित करनी होगी जो जमीन के अनुकूल कार्य करे न कि उसके प्रतिकूल। तकनीक के लिए यह असंभव है कि वह कभी भी जमीन को पूरी तरह से नियंत्रित कर सके। हम भी मनुष्य के रूप में प्रकृति के ऊपर कभी भी पूरी तरह से नियंत्रण नहीं कर पाएंगे। हरित क्रांति तकनीकों को अपनाने के बाद किसान एक ऐसे चक्र में फंस जाते हैं जिसे आसानी से तोड़ पाना संभव नहीं। इससे जो निर्भरता पैदा होती है उससे कई लोग कर्ज और गरीबी में डूब गए।

हरित क्रांति के पक्ष में यह दलील दी गई थी कि भारत के लोग भूख से मर रहे हैं और अगर ज्यादा मात्रा में खाद्य उत्पादन किया जाए तो इस समस्या से निपट सकेंगे। अमर्त्य सेन जैसे अर्थशास्त्री के अनुसार कभी भी खाद्य की कमी के कारण भारत में अकाल नहीं आया है बल्कि अकाल के पीछे का प्रमुख कारण लोगों की भोजन प्राप्त करने की असमर्थता रही है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत को कई गंभीर अकाल का सामना करना पड़ा था। उपनिवेशी सरकार द्वारा वर्ष 1980 में एक 'अकाल कमीशन' का गठन किया गया था जिसका उद्देश्य बदलती स्थितियों में अकाल की समस्या की जांच करना और इसके लिए समुचित समाधान ढूँढना था। हैरानी की बात है कि इस कमीशन ने भी यह पाया कि प्रत्येक प्रांत में खाद्य का अतिरिक्त भंडारण था। समस्या का संबंध उत्पादन में कमी से बिल्कुल नहीं था बल्कि मूल समस्या यह थी कि भोजन खरीद पाने में लोग असमर्थ थे।

अब बहुतायत की राजनीति के बजाए सामाजिक विकास के लिए सोचने का समय आ गया है। हरित क्रांति से हो सकता है कि कुछ इलाकों में उत्पादन बढ़ा हो परंतु अभी भी बिहार और झारखंड जैसे राज्यों में अधितर किसानों की स्थिति जरा भी नहीं सुधरी है। इस वक्त इन्हें सबसे ज्यादा मदद की जरूरत है।

बढ़ती जनसंख्या की समस्या से निपटने के लिए, तमाम अध्ययन टिकाऊ और पारंपरिक खेती की ओर इशारा कर रहे हैं। टिकाऊ और पारंपरिक खेती के अनगिनत लाभ होने के बावजूद भी इन्हें पूरे विश्व के स्तर पर अपनाते हैं। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में अलग-अलग जलवायु की स्थितियां हैं। इसीलिए अगर विश्व के एक स्थान में टिकाऊ खेती सबसे ज्यादा कारगर सिद्ध होती है तो हो सकता है कि वह दूसरे इलाके में उतनी कामयाब न हो। कुछ वैज्ञानिकों का यह सुझाव है कि केवल जैविक खेती करने के बजाए एकीकृत खेती को अपनाना चाहिए क्योंकि कभी-कभी जैविक खेती आधुनिक खेती से ज्यादा नुकसानदायक हो जाती है। कृषि तरीकों की सफलता कई घटकों के ऊपर आधारित है। सबसे कारगर तरीका वही है जहां कई सारी तकनीकों का मिश्रण किया गया हो। स्थानीय बाधाओं के अलावा, टिकाऊ खेती में कहीं ज्यादा श्रम की भी आवश्यकता होती है।

कृषि विज्ञान के कारण अब मानव जनसंख्या जितना चाहे बढ़ सकती है और विश्व के सारे भू-खंडों के ऊपर अपना अधिपत्य जमा सकती है। विज्ञान ने जिस प्रकार से तरक्की की है उससे मानव जाति अब पारिस्थितिकी तंत्र को अपने फायदे के लिए तोड़-मरोड़ सकती है। जैसे-जैसे जनसंख्या में वृद्धि हो रही है संसाधन घटते जा रहे हैं। पानी, ऊर्जा और मिट्टी—ये ऐसे घटक हैं जो विश्व जनसंख्या का अस्तित्व निर्धारित करते हैं। यह बहुत महत्वपूर्ण है कि इनका इस्तेमाल सोच समझ कर किया जाए। आधुनिक खेती और टिकाऊ खेती की तुलना से यह पता चलता है कि टिकाऊ खेती कई मानदंडों पर बेहतर करते हैं। टिकाऊ खेती में पानी और ऊर्जा की खपत कम होती है, मिट्टी की संरचना बेहतर होती है, और इसमें रसायनों का इस्तेमाल नहीं किया जाता है। आधुनिक खेती पर्यावरण के साथ समझौता किए बिना कभी भी मौजूदा जनसंख्या की जरूरतों को पूरा नहीं कर सकती है। टिकाऊ खेती विश्व की भूख मिटाने, पर्यावरण को समृद्ध करने और कार्बन उत्सर्जन को कम करने में कामयाब है। बढ़ती जरूरतों को पूरा करने के लिए सामाजिक, आर्थिक और पर्यावरणीय लाभ के साथ टिकाऊ खेती ही सबसे उचित माध्यम है।

FOCUS ON THE GLOBAL SOUTH

फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ

फोकस ऑन द ग्लोबल साउथ, एशिया (थाईलैंड, फिलीपीन्स एवं भारत) में स्थित एक नीति शोध संगठन है। फोकस भारत एवं विश्व के दक्षिण भाग (यानी विकासशील देशों) में वैश्वीकरण की राजनीतिक अर्थव्यवस्था और इस प्रक्रिया में अंतर्निहित प्रमुख संस्थाओं के बारे में शोध तथा विश्लेषण प्रदान कर सामाजिक आंदोलनों एवं समुदायों की सहायता करता है। फोकस के लक्ष्य दमनकारी आर्थिक एवं राजनीतिक संरचनाओं की समाप्ति, स्वतंत्र संरचनाओं तथा संस्थाओं का निर्माण, विसैन्यीकरण और शांति को बढ़ावा देना है।

**ROSA
LUXEMBURG
STIFTUNG
SOUTH ASIA**



रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफ़तुंग (आर.एल.एस.)

रोज़ा लक्जमबर्ग स्टिफ़तुंग (आर.एल.एस.) जर्मनी में स्थित एक फाउंडेशन है, जो दक्षिण एशिया की तरह ही विश्व के अन्य भागों में महत्वपूर्ण सामाजिक विश्लेषण और नागरिक शिक्षा के विषयों पर कार्य कर रहा है। यह एक संप्रभु, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष एवं लोकतांत्रिक सामाजिक व्यवस्था को बढ़ावा देता है। इसका उद्देश्य समाज एवं नीति निर्धारकों के सामने वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करना है। यह शोध संगठनों, स्व-मुक्ति के लिए संघर्ष करने वाले समूहों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को उन मॉडल्स के विकास में उनकी पहलों में मदद देता है, जिनमें अत्यधिक सामाजिक एवं आर्थिक न्याय देने की क्षमता है।